

★
न्याय, त्याग और भाईचारा
किसान आन्दोलन और भावी समाज दृष्टि
★



विद्या आश्रम
सारनाथ, वाराणसी-221007

न्याय, त्याग और भाईचारा

किसान आन्दोलन और भावी समाज दृष्टि

किसान आन्दोलन में आज तक हजारों
किसान अपनी शहादत दे चुके हैं।
किसानों के संकल्प, साहस और जीवनमूल्यों को
यह पुस्तक समर्पित है।

विद्या आश्रम
सारनाथ, वाराणसी

२०२२

पुस्तक : न्याय, त्याग और भाईचारा : किसान आन्दोलन और भावी समाज-दृष्टि

प्रकाशन वर्ष : अगस्त, २०२२

सहयोग राशि : रुपये ५०.००

संपादक : गिरीश सहस्रबुद्धे और कृष्ण गांधी

प्रकाशक : लोकविद्या समूह और विद्या आश्रम की ओर से समन्वयक चित्रा सहस्रबुद्धे
द्वारा प्रकाशित

संपर्क :

- डाक पता :
विद्या आश्रम, सा १०/८२ ए, अशोक मार्ग, सारनाथ, वाराणसी-२२१००७
- मोबाइल : ९८३८९४८८२२
- ई-मेल : vidyaashram@gmail.com
- वेबसाइट : vidyaashram.org
- ब्लॉग :
lokavidyajanandolan.blogspot.com
darshanakhadablog.wordpress.com

आवरण चित्र : चित्रा सहस्रबुद्धे

ग्राफिक्स व सेटिंग : दीनानाथ चौबे

मुद्रक : सत्तनाम प्रेस, नई बस्ती, पांडयेपुर, वाराणसी-२२१००२

लेख-सूची

लेख	लेखक	पृ.सं.
विषय प्रवेश		
भाग-१ : आन्दोलन		
१. किसान आन्दोलन	सुनील सहस्रबुद्धे	९
२. २०२०-२१ का ऐतिहासिक किसान आन्दोलन : झलक और सबक	सुनील सहस्रबुद्धे	१४
३. किसान आन्दोलन एवं नयी सामाजिक व्यवस्था	कविता कुरुगंटी	१८
४. किसान आन्दोलन : लोकविद्या जन आन्दोलन का पर्चा : मार्च २०२१	कृष्ण गांधी	२९
५. फेसबुक पोस्ट	कृष्णराजुलु	३७
-सरकार ज्यादती न करे, ...	सुनील सहस्रबुद्धे	
-जब खाद्य की बात हो तो ...	०२ दिसं. २०२०	४०
-विद्या आश्रम, सारनाथ पर वार्ता	१८ दिसं. २०२०	४१
-सुप्रीम कोर्ट अंग्रेजी में बोलता है	०४ जन. २०२१	४३
-हमारे मालिक हम खुद रहेंगे	१७ जन. २०२१	४४
६. फेसबुक पोस्ट	२८ फर. २०२१	४५
-किसान अन्धदाता तो है ही, मुक्तिदाता भी है	गिरीश सहस्रबुद्धे	
	०३ मार्च २०२१	४६
भाग-२ : बाजार, बेरोजगारी और आय		
७. समर्थन मूल्य, किसान-विरोधी नीति और किसान आन्दोलन	विजय जावंथिया	५०
८. आय का सवाल, ज्ञान और किसान आन्दोलन	कृष्ण गांधी	६७
९. देश की खुशहाली का रास्ता एमएसपी में है	रामजनम	७२
१०. किसान आन्दोलन और आय का सवाल	गिरीश सहस्रबुद्धे	७७
११. लोकविद्या समाज : आजीविका और आमदनी	कृष्णराजुलु	८८
१२. पूँजीवादी बाजार बनाम स्थानीय बाजार	कृष्ण गांधी	९४
१३. लोकविद्या बाजार-एक अहम जरूरत	कृष्णराजुलु	१०१

१४. फेसबुक पोस्ट	सुनील सहस्रबुद्धे	
-घाटे की किसानी और बेरोजगारी	१८ सितं. २०२१	१११
-गाँव की गरीबी में पूँजीवादी		
शासन का आधार	२१ जन. २०२२	१११

भाग-३ : ज्ञान, राजनीति और भावी समाज की दृष्टि

१५. लोकविद्या समाज की एकता	चित्रा सहस्रबुद्धे	११४
१६. किसान आन्दोलन और अराजनीतिकता	सुनील सहस्रबुद्धे	१२५
१७. समाज परिवर्तन तथा न्याय, त्याग और भाईचारा	कृष्णराजुलु	१२७
१८. खाद्य संप्रभुता एक जीवन दर्शन है	वाया कम्पेसिना	१३४
१९. किसान की विद्वान से बातचीत	सुनील सहस्रबुद्धे	१४१
२०. ज्ञान, मानव-समाज और स्वराज	जे.के. सुरेश और जी. शिवरामकृष्णन	१४२
२१. समाज संगठन के प्रमुख स्तम्भ	चित्रा सहस्रबुद्धे	१५०
२२. मानव समाज की संरचना : व्यक्ति, समाज, ज्ञान और धर्म	कृष्ण गांधी	१५९
२३. स्वायत्तता, ज्ञानी समाज और स्वराज	गिरीश सहस्रबुद्धे	१६६
२४. लोकविद्या के दावे मान लिए जाते हैं तो अर्थव्यवस्था कैसी दिखेगी ?	अमित बसोले	१७७
२५. न्याय, त्याग और भाईचारा	ललित कुमार कौल	१८१
२६. स्वराज, स्वायत्तता, संघीयता, संविधान, समाज और प्रतिनिधित्व	कृष्ण गांधी	१८५
२७. पेज़ंट और फार्मर	जी. शिवरामकृष्णन	१९४
२८. फेसबुक पोस्ट	सुनील सहस्रबुद्धे	
-किसान आन्दोलन और राजनैतिक दर्शन	२१ दिसं. २०२०	२००
-किसान सत्ता का विचार	२४ दिसं. २०२०	२०१
-राजा और किसान	२५ दिसं. २०२०	२०२
-जहाँ गाँव नहीं वहाँ सभ्यता नहीं	०४ जन. २०२१	२०३
-स्वराज संवाद-१	०७ फर. २०२१	२०४
-स्वराज संवाद-२	१७ फर. २०२१	२०७
-स्वराज संवाद-३	२८ फर. २०२१	२०८
२९. देखें बूझें अपने गाँव	प्रेमलता, चकियावी	२२०



पुस्तक-परिचय

लोकविद्या का विचार १९८०-९० दशक के किसान आन्दोलन में जन्मा और विस्तार पाया। अब एक बार फिर किसान आन्दोलन ने यह मौका तैयार किया है कि लोकविद्या का विचार समाज, राष्ट्र और राज्य-सत्ता की अवधारणाएँ तथा स्वराज की स्थापना पर व्यापक संवाद और अभियान का निर्माण करे। यह पुस्तक इसी दिशा में एक कदम है।

‘विषय-प्रवेश’ पुस्तक के बृहत् संदर्भ को स्पष्ट करता है। पिछले तीन-चार दशकों में अस्तित्व में आई व्यापक जन-विरोधी प्रणालियों के वर्चस्व की वर्तमान वैश्विक परिस्थितियों में किसान आन्दोलन किन अर्थों में विचार और सामाजिक पुनर्निर्माण के नए रास्ते खोलता है, इस बात की यहाँ ज्ञान परिप्रेक्ष्य में चर्चा की गई है। किसान आन्दोलन की शक्ति, दिशा और संभावनाएँ तथा उसके विभिन्न पक्षों पर लेख इस संकलन में हैं। पुस्तक के कुल २१ लेख तीन भागों में वितरित हैं।

भाग-१ : आन्दोलन में अंग्रेजों द्वारा जर्मांदारी व्यवस्था देश पर थोपने से लेकर बनती किसानों के असंतोष की पृष्ठभूमि, आन्दोलन की विशेषता और आगे के लिए उसके सबक, संगठन और निर्णय-प्रक्रिया के नए रूप, आन्दोलन में सिख-समाज और खापों की महत्वपूर्ण भूमिका, आन्दोलन के मूल्य, और राष्ट्र राज्य-व्यवस्था तथा समाजों के बीच का संघर्ष इन विषयों पर चार लेख हैं।

भाग-२ : बाजार, बेरोजगारी और आय में सात लेख हैं। चर्चा के विषय हैं किसान-विरोधी नीति और समर्थन मूल्य का इतिहास, कानूनन गारण्टी की माँग का महत्व, वैश्विक बाजार में विषम-विनिमय, बेरोजगारी की जड़, लोकविद्या समाज की आय, स्थानीय बाजार का महत्व और लोकविद्या बाजार की परिकल्पना।

भाग-३ : ज्ञान, राजनीति और भावी समाज की दृष्टि में समाहित दस लेखों में सामान्य जीवन में अंतर्निहित ज्ञान, लोकविद्या, न्याय त्याग और भाईचारा के मूल्य, अहिंसा और लोकधर्म, लोकविद्या समाज की अर्थव्यवस्था, लोकविद्या समाज की एकता, ज्ञान-सत्ता, स्वायत्तता, समाज संगठन, समाज में वितरित सत्ता, और स्वराज इन विचारों की पोटली को लेकर हमारे देश के भावी समाज की उस दृष्टि की और बढ़ने का प्रयास है जो आज की विषम, अन्यायपूर्ण और परजीवी व्यवस्था के सामने चुनौती खड़ी कर सके, और साथ ही न्याय, त्याग और भाईचारे के मूल्यों पर आधारित समाज की वास्तविक संभावना के प्रति विश्वास जगा सके। इन लेखों में विशेष तौर पर किसान आन्दोलन के उत्तरोत्तर विकासशील गति की पहचान है और यह मान्यता कि किसान आन्दोलन एक नई समाज रचना के बारे में सोचने और उसकी ओर बढ़ने का प्रस्थान बिंदु हो सकता है।

लेखों के उपरोक्त तीन भागों में विभाजन के बारे में यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि यह विभाजन मोटे तौर पर किया गया है, और कई लेख एक से अधिक भागों में समाहित विषयों को छूते हैं।

लेखों के अलावा पुस्तक में १५ फेसबुक पोस्ट शामिल की गई हैं। ये सभी आन्दोलन की शुरुआत के बाद से समय-समय पर लिखी गई हैं। इनमें से कुछ आन्दोलन के अलग-अलग आयामों को लेकर हैं, और कुछ आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में भावी समाज के लिए व्यापक दृष्टि प्रस्तुत करती हैं। उनमें कहीं बातों के आधार पर उन्हें भी अलग-अलग उपरोक्त तीन भागों में अंत में समाविष्ट किया गया है।

अधिकतर लेख आन्दोलन के दौरान, और उसके कुछ पहले से भी, लोकविद्या विचार और कुल किसान आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर विद्या आश्रम और लोकविद्या जन आन्दोलन के साथियों के बीच लगातार चले आपसी संवाद का नतीजा हैं। इसमें श्री विजय जावंधिया और श्रीमती

कविता कुरुगंटी के लेख अपवाद कहे जा सकते हैं। कविता जी इस आन्दोलन में खुद शरीक थीं और आन्दोलन के दौरान सरकार के साथ किसानों की तरफ से चर्चा में शामिल संयुक्त किसान मोर्चा के प्रतिनिधि मंडल की एकमात्र महिला सदस्या रहीं। श्री विजय जावंधिया पिछले देशव्यापी किसान आन्दोलन में सक्रिय महाराष्ट्र की शेतकरी संघटना के पूर्व अध्यक्ष और किसानों के बड़े नेता हैं। १९८० के दशक के किसान आन्दोलन के दौरान गठित ‘अखिल भारतीय किसान समन्वय समिति’ में, जिसके विजय जी समन्वयक भी थे, उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। उस आन्दोलन के काल में विद्या आश्रम के साथी ‘मजदूर किसान नीति’ पत्रिका के प्रकाशन (१९७७-८७) के साथ किसान आन्दोलन में और समन्वय समिति के साथ भी सक्रिय थे। विद्या आश्रम, सारनाथ और अन्य कई स्थानों पर हुई बैठकों और महामारी के दौरान ऑनलाइन चर्चाओं में कई अवसरों पर विजय जी के साथ से हमने बहुत कुछ पाया है। इस पुस्तक के सभी लेखक किसान आन्दोलन और फिर लोकविद्या जन आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी करते रहे हैं। सभी लेखकों का संक्षिप्त परिचय पुस्तक में आगे दिया गया हैं।

आन्दोलन में शहीद हुए किसानों की याद में नत-मस्तक हो हम यह पुस्तक आन्दोलन के कार्यकर्ताओं और वाचकों के हाथों में सौंप रहे हैं। हम आशा करते हैं कि पुस्तक वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सभ्यता के पुनर्निर्माण में किसान की भूमिका की दावेदारी प्रस्तुत कर सकेगी।

१५ जुलाई २०२२

कृष्ण गाँधी
गिरीश सहस्रबुद्धे

जहाँ किसान नहीं, वहाँ सभ्यता नहीं ।

विषय-प्रवेश

इतना बड़ा किसान आन्दोलन सरकार की पूरी आक्रामकता झेलते हुए भी शांतिपूर्ण बना रहा इसमें केवल न्याय का आग्रह रखने वाले संघर्षों के लिए ही एक नजीर नहीं है तो भारत के भविष्य और उसके साथ-साथ दुनिया के

सभ्यतागत सन्दर्भों में राज्य की पुनर्रचना की जो बात उठी है, उसमें सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों को तो शामिल किया जाता है लेकिन ज्ञान के सवाल पर सब मौन दिखते हैं। लोकविद्या जन आन्दोलन यह सोचता है कि राज्य की सभ्यतागत पुनर्रचनाओं में ज्ञान के सवाल को केन्द्रीय स्थान मिलना चाहिए और किसान आन्दोलन ने इसके लिए ज़मीन बनाई है।

लोगों पर किसान आन्दोलन प्रभाव नहीं डाल पा रहा था वे भी वैश्विक घटनाओं के चलते इस बहस में खिंच आये हैं।

जो लोग किसानों के आन्दोलन से परिचित हैं, वे जानते हैं कि वर्तमान आन्दोलन उसी महान किसान आन्दोलन का हिस्सा है और उसे आगे बढ़ाता है जो १९८० में शुरू होकर तमिलनाडु, कर्णाटक, महाराष्ट्र, हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश में बड़े पैमाने पर फैल गया था और जिसकी हलचल गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, आनंद प्रदेश, उड़ीसा और बिहार में उस दौर में देखी गई थी। इस आन्दोलन का विचार विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। इस आन्दोलन ने देश को भारत-इण्डिया के रूप में विभाजित अथवा इन दो हिस्सों से बने हुए देश के रूप में देखा और यह कहा कि गाँव की गरीबी के कारक गाँव के बाहर हैं। यानि यह कि इण्डिया की सारी चमक भारत को गरीब रख कर आती है। किसान के उत्पादन को न्यायोचित मूल्य न देकर कृषि को लगातार घाटे का बनाया जाता है। कृषि का यही घाटा तरह-तरह के रास्ते तय करके सरकारी खजाने में और व्यापारियों (उद्योगपतियों) के धन के रूप में प्रकट होता है। इस स्थिति को बदलने के विचार और कार्य एक नई आर्थिक और राजनीतिक

व्यवस्था की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं और उस ओर बढ़ने के रास्ते भी खोलते हैं। वर्तमान किसान आन्दोलन में इतने बड़े पैमाने पर एकजुट होकर और सैकड़ों किसानों के प्राणों की कुर्बानी देकर इसी दिशा में एक मजबूत कदम फिर से रखा है।

भारत में 'सभ्यतागत' का अर्थ है संत-परम्परा, उसी से लोगों का जीवंत सम्बन्ध है। वहीं से सामान्य जीवन की निरंतरता की समझ और उसके मूल्य मिलते हैं। यहीं भारत की महान परम्परा है। भारत की महान परम्परा वह नहीं है जो बड़ी आसानी से हिंसा, आक्रमण, धार्मिक संगठन और ज्ञान आदि में यूरोप अथवा रूस के विचारों और वास्तविकताओं से समझौता कर ले।

इस दौरान दुनिया भर में हुए घटनाक्रमों पर एक नज़र डाली जाए तो वह व्यापक वैश्विक सन्दर्भ मुख्य होकर सामने आएगा जिसमें भारत का २०२० में शुरू हुआ यह किसान आन्दोलन अवस्थित है। फिर नई संभावनाओं को लेकर इसका सन्देश समझने और बनाने में अच्छी मदद हो सकती है।

रूस यूक्रेन जंग के साथ दुनिया भर में एक वैचारिक जंग भी शुरू हो गई है। सोच और व्यवहार के प्रकट रूपों पर पश्चिम (यूरोप और अमेरिका) का दबदबा बना हुआ है। राजनीति में भी राष्ट्र राज्य का निर्माण यूरोप के ऐतिहासिक और वैचारिक सन्दर्भों में हुआ। लेकिन अब रूस कह रहा है कि वह रूस की महान परम्परा के सन्दर्भ में राज्य का पुनर्निर्माण करेगा। भारत भी इस किस्म की बात कर रहा है। इस्लाम की दुनिया और चीन भी ऐसी बात करते हैं। पश्चिम के दबदबे से अपने को मुक्त करते हुए विविध सभ्यताओं के सन्दर्भ में नई राजनीतिक वास्तविकताएं बनने की यह पूर्व संध्या मालूम पड़ती है।

सभ्यतागत सन्दर्भों में राज्य की पुनर्रचना की जो बात उठी है, उसमें सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों को तो शामिल किया जाता है लेकिन ज्ञान के सवाल पर सब मौन दिखते हैं। साइंस की अकथित सर्वमान्य स्थिति ही दिखाई देती है। अपनी ज्ञान परम्पराओं की बात आती भी है तो यह कहते हुए आती है कि हमारे यहाँ भी पहले से साइंस है। यानि साइंस की 'ज्ञान और उसकी तार्किक संरचना' के विकल्प के रूप में कुछ सामने नहीं आता और प्रकारान्तर से पश्चिम का वैचारिक, दार्शनिक दबदबा बना रहता है।

लोकविद्या जन आन्दोलन यह सोचता है कि राज्य की सभ्यतागत पुनर्रचनाओं में ज्ञान के सवाल को केन्द्रीय स्थान मिलना चाहिए और किसान

आन्दोलन ने इसके लिए ज़मीन बनाई है। सांस्कृतिक सभ्यतागत परम्पराओं में ज्ञान के विविध अर्थ मिलते हैं और उन अर्थों में परम्परा में ज्ञान की मौलिक और केन्द्रीय भूमिका होती है। इस तरह सोचा जाये तो राज्य की सभ्यतागत पुनर्रचना ‘स्वराज’ की ओर ले जाये ऐसा हो सकता है। ऐसा सोचने के लिए पिछले तीन दशकों की उन वैश्विक घटनाओं पर गैर करना ज़रूरी हैं जिनमें ‘राज्य’ की अवधारणा को विविध लोकस्थ ज्ञान पर आधारित बनाने/होने का आग्रह रहा है।

कहा जा सकता है कि १९९० में सोवियत यूनियन के टूटने, इन्टरनेट के आने, वैश्वीकरण के शुरू होने और दूसरे खाड़ी युद्ध के साथ दुनिया ने एक नए युग में प्रवेश किया। सभी तरह के बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। शोषण के नए रूप अस्तित्व में आये। नई आक्रामक जन विरोधी व्यवस्था को नये साम्राज्य का नाम दिया गया तथा इसके विरोध में नये किस्म के आन्दोलन सामने आये। वाया कम्पेसिना के नाम से एक अंतर्राष्ट्रीय किसान आन्दोलन ने आकार लिया जिसने ‘खाद्य संप्रभुता’ के नाम पर खाद्य को बाज़ार से अलग करने और किसान के इर्द-गिर्द स्थानीय व्यवस्थाओं से जोड़ने का विचार दिया। विश्व सामाजिक मंच ने दुनिया भर में

विद्या आश्रम ने लोकविद्या विचार के जरिये ज्ञान की दुनिया में दखल का विचार बनाया और उसे कुछ हद तक आकार दिया। शायद अब समय है कि सभ्यतागत सन्दर्भों में लोकविद्या आधारित, संत परंपरा संदर्भित राज्य की कल्पना बनाई जाये। २००ीं सदी के सबसे बड़े संत महात्मा गाँधी ने ऐसे ही रास्ते की पैरोकारी की। २०२१-२२ के महान किसान आन्दोलन ने इस दिशा में एक नई आशा का संचार किया है।

वैश्वीकरण और अमेरिका के विरोध में माहौल बनाया। जल-जंगल-ज़मीन पर स्थानीय लोगों के अधिकार के आन्दोलन चले। पश्चिम के कई देशों में छात्र आन्दोलन ने उत्पादन के स्थलों पर होने वाले किसान और मजदूर प्रतिरोध को बाज़ार और विश्वविद्यालय में ले जाने का विचार सामने लाया।

इसी दौर में दक्षिणी अमेरिका और मेक्सिको के देश आन्दोलनों ने संस्कृति और ज्ञान की विविध धाराओं को सम्मान देने वाले ‘प्लूरीनेशनल स्टेट’ की बात की और स्थापना भी की। उन्होंने इस दुनिया को कई दुनियाओं से बना हुआ बताया और यह कहा कि सभी दुनियायें आपस में शांति के साथ रह सकती हैं और यह कि इसी में अब बदलाव की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सूत्र हैं।

किसान आन्दोलन ज्ञान की राजनीति के नये पैमाने गढ़ रहा है। ज्ञान की एक नई दार्शनिक व्याख्या की मांग प्रस्तुत कर रहा है। यह १९८० के दशक के किसान आन्दोलन की वही मांग है, जिसके चलते लोकविद्या विचार ने जन्म लिया और यह स्थापना की कि ज्ञान मनुष्य का स्वाभाविक गुण है और यह कि सभी मनुष्य - किसान, कारीगर, आदिवासी, महिलाएं, छोटे-छोटे दुकानदार, सभी सामान्य जन - ज्ञानी होते हैं और यह कि उनके ज्ञान में उस नैतिक दृष्टि का समावेश होता है जिसके चलते वह ज्ञान उस नई दुनिया की रचना के रास्ते खोलता है जिसमें न्याय, त्याग और भाईचारा बड़े नैतिक मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इस बात को वर्तमान राजनीतिक सन्दर्भों में सार्वजनिक किया जाना चाहिए। उद्घारण के लिए भारत में 'सभ्यतागत' का अर्थ है संत-परम्परा, उसी से लोगों का जीवंत सम्बन्ध है। वहाँ से सामान्य जीवन की निरंतरता की समझ और उसके मूल्य मिलते हैं। यही भारत की महान परम्परा है। भारत की महान परम्परा वह नहीं है जो बड़ी आसानी से हिंसा, आक्रमण, धार्मिक संगठन और ज्ञान आदि में यूरोप अथवा खस के विचारों और वास्तविकताओं से समझौता कर ले।

विद्या आश्रम ने लोकविद्या विचार के जरिये ज्ञान की दुनिया में दखल का विचार बनाया और उसे कुछ हृद तक आकार दिया। शायद अब समय है कि सभ्यतागत सन्दर्भों में लोकविद्या आधारित, संत परंपरा संदर्भित राज्य की कल्पना बनाई जाये। २०वीं सदी के सबसे बड़े संत महात्मा गांधी ने ऐसे ही रास्ते की पैरोकारी की। २०२१-२२ के महान किसान आन्दोलन ने इस दिशा में एक नई आशा का संचार किया है। समाज से सरोकार रखने वाले और परिवर्तन के आकांक्षी सभी लोगों को एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया है। कई बातें मुखर होकर सामने आई हैं। किसान ज्ञानी हैं। वह एक विश्वदृष्टि रखता है। अन्य समाजों को साथ लेकर एक नई दुनिया बनाने की क्षमता रखता है। न्याय, त्याग और भाईचारा के मूल्य बड़े पैमाने पर सामने आये हैं और देश व समाज की पुनर्रचना के लिए दिशाबोध देते हैं। साथ में कृषि उत्पादों के लिए न्यायसंगत मूल्य की मांग को आगे रखकर आय में संवर्धन को केन्द्रीय मुद्दा भी बनाया है। पारंपरिक सभ्यताओं का यह विचार रहा है कि जहाँ गाँव नहीं वहाँ सभ्यता नहीं।

सुनील सहस्रबुद्धे

भाग - १

आन्दोलन

किसानों के असंतोष की पृष्ठभूमि, आन्दोलन की विशेषता और आगे के लिए उसके सबक, संगठन और आन्दोलन में निर्णय-प्रक्रिया के नए रूप, आन्दोलन में सिख-समाज और खापों की महत्वपूर्ण भूमिका, आन्दोलन के मूल्य, और राष्ट्र राज्य-व्यवस्था तथा समाजों के बीच का संघर्ष

किसान आन्दोलन

सुनील सहस्रबुद्धे

अंग्रेजों ने १७९३ में ज़र्मीदारी प्रथा लागू की तब से आज तक किसानों का असंतोष समयांतर से नये-नये रूपों में लगातार मुखरता रहा है। २०वीं सदी के अंतिम तीन दशकों से एक नये और बहुत बड़े राष्ट्रव्यापी किसान आन्दोलन की शुरुआत हो गई जिसने कहा कि गाँव की गरीबी के कारण गाँव के बाहर है। हाल का किसान आन्दोलन इसी किसान आन्दोलन का हिस्सा है और आज तक की किसानों की सबसे बड़ी गोलबंदी है। आन्दोलन के रुझान को देखते हुए महसूस होता है कि दशकों से चल रहा यह आन्दोलन साम्राज्यवाद की नींव हिला रहा है। यह विश्व की एक नई व्यवस्था की कल्पना बना रहा है जिसमें शासन समाज में वितरित होगा, विनियम सभी पक्षों के लिए न्यायसंगत होगा तथा जो प्रकृति के साथ दोस्ती, न्याय, त्याग, और भाईचारा के मूल्यों से अनुप्राणित व निर्देशित होगी।

भारत में किसान आन्दोलन की कोई भी समग्र चर्चा तभी से शुरू होती है जब अंग्रेजों ने यहाँ ज़र्मीदारी की व्यवस्था लागू की। यह आज से ढाई सौ साल पहले, १७७० के दशक की बात है। यह व्यवस्था किसान के भयंकर शोषण पर आधारित रही। तभी से पूरी १९ वीं सदी इस देश का किसान बार-बार इस नई व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह करता रहा है। बाद में इन विद्रोहों को एक आन्दोलन का रूप मिला, जिसका मुख्य विचार यह था कि ज़मीन का मालिक वह होना चाहिए जो ज़मीन को जोतता है। १९३० के दशक से किसान सभा और कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में यह बंटाईदारों का ज़मीन के मालिकाने का आन्दोलन बना। आजादी के बाद, १९५३ में कानून बनाकर, ज़र्मीदारी व्यवस्था समाप्त कर दी गई, जिससे किसानों को अपनी जोतने वाली ज़मीन का मालिकाना हक मिला। जो धीरे-धीरे करके तमाम अड़चनों को पार करते हुए लागू हो पाया। इसे ठीक से लागू करवा पाने के लिए कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों ने जगह-जगह पर आन्दोलन किये। उत्तर बंगाल और तेलंगाना में ये कानून ठीक से लागू नहीं किये गये और किसानों को उनका हक नहीं मिला, जिसके चलते उत्तर बंगाल से नक्सलबाड़ी आन्दोलन और लगभग एक दशक बाद तेलंगाना के आदिलाबाद और करीमनगर जिलों से माओवादी आन्दोलन ने आकार लिया।

देश के ज्यादातर हिस्सों में किसानों को ज़मीन का हक्क मिला जिसके चलते किसान के लिए नई परिस्थितियों का निर्माण हुआ। किसान की इस नई स्थिति को कांग्रेस सरकारों की नीतियां ठीक से जगह न दे सकीं जो किसानों में बहुत बड़े असंतोष का कारण बना और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय होने लगा। नतीजे स्वरूप उत्तर भारत के कई प्रदेशों में १९६७ के विधान सभा चुनावों में कांग्रेस को सत्ता से हाथ धोना पड़ा। चरण सिंह को किसानों के इस उठाव का नेता माना जाता है, जिस प्रक्रिया में १९६० और ७० के दशक में कृषि में नई तकनीकों का इस्तेमाल बढ़ता चला गया। दलीय राजनीति किसानों के हितों की रक्षा करने में असफल रही और १९८० में महाराष्ट्र और कर्णाटक से एक नये और बहुत बड़े राष्ट्रव्यापी किसान आन्दोलन की शुरुआत हो गई।

वास्तव में, कहा जा सकता है कि इस किसान आन्दोलन की शुरुआत १९५८-५९ से ही तमिलनाडु में हो गई थी जब नारायण स्वामी नायडू बड़े किसान नेता के रूप में उभरे और उनके नेतृत्व में किसानों ने बिजली की दर कम करने का आन्दोलन चलाया। बाद में इस आन्दोलन की ओर सबका ध्यान तब गया जब १९७३ में दस हजार बैल गाड़ियों ने कोयम्बतूर शहर को जाम कर दिया। १९७३ में ही पंजाब के किसानों ने खेती-बाड़ी यूनियन बनाकर गेहूँ के दाम का आन्दोलन खड़ा किया, क्योंकि सरकार ने गेहूँ का दाम ७३ रुपये प्रति कुंतल से घटा कर ६९ रुपये कर दिया था। चंद वर्षों में ही बड़ा राजनीतिक परिवर्तन हुआ और केंद्र में जनता पार्टी की सरकार बनी। चरण सिंह केन्द्रीय मंत्रिमंडल के विरिष्ट सदस्य बने। उन्होंने केंद्र के बजट का एक बड़ा हिस्सा, ४०% तक, गांवों के लिए आवंटित करने का आग्रह रखा और एक बड़ा ग्रामीण विकास कार्यक्रम शुरू हुआ। लेकिन इसके बावजूद दलीय राजनीति में किसानों के लिए जगह नहीं बन पाई। विकास का मुख्य आधार गांवों से मूल्य का स्थानान्तरण बना रहा जिसके चलते बड़े उद्योगों को लगाने की पूँजी उपलब्ध होती रही। किसान खरीदता महंगा रहा और बेचता सस्ता रहा। इसे ही ‘असमान विनिमय’ कहा जाता है। नतीजे स्वरूप किसान के उत्पाद का दाम यह सबसे बड़े मुद्दे के रूप में उभरा। महाराष्ट्र और कर्णाटक में १९८० में गन्ने के दाम को लेकर बड़े-बड़े सफल आन्दोलन हुए। अपने भविष्य को लेकर किसानों की कुर्बानी के साथ किसान आन्दोलन का नया दौर शुरू हो गया।

१५ दिसंबर १९८० को इस नये किसान आन्दोलन के सभी प्रान्तों के

नेता हैदराबाद में एक सम्मलेन के लिए जुटे। यहाँ उन्होंने कहा कि देश भर में चल रहे किसान संघर्ष एक ही आन्दोलन के हिस्से हैं और तय किया कि विभिन्न राज्यों के संगठन भारतीय किसान यूनियन के नाम से काम करें। आगामी वर्षों में तमिलनाडु, कर्णाटक, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा और अंत में १९८७ में उत्तर प्रदेश में लाखों की तादाद में किसान अपनी मांगों को लेकर सड़कों पर उतरे। इसी आन्दोलन को नया किसान आन्दोलन कहा गया है। हाल का किसान आन्दोलन, जिसने २६ नवम्बर २०२० से दिल्ली पर घेरा डाला, इसी किसान आन्दोलन का हिस्सा है और आज तक की किसानों की सबसे बड़ी गोलबंदी है। लाखों की भागीदारी, पूरे देश में समर्थन और हजार से ज्यादा किसानों की कुर्बानी के साथ सरकार की एक से बढ़ कर एक दमनात्मक कार्यवाही का शांतिपूर्ण तरीकों से मुकाबला किया गया। इस आन्दोलन के लिये सभी किसान संगठनों ने साथ आ कर संयुक्त किसान मोर्चा का गठन किया। इसने तीन नये बनाये गए कृषि कानून वापस करा दिए। पहला कानून कृषि में ठेका प्रथा को बढ़ावा देता था, दूसरा कृषि उत्पाद की खरीद में निजी पूँजी के आगे बढ़ने और सरकार के पीछे हटने का रास्ता खोलता था और तीसरा, आवश्यक वस्तुओं, जिसमें सभी कृषि उत्पाद शामिल हैं, के भण्डारण पर लगी सारी रोक हटाता था। ये तीन कानून तो वापस हो गए। लेकिन न्यूनतम समर्थन मूल्य (मिनिमम सपोर्ट प्राईज यानि एमएसपी) की किसानों की लड़ाई जारी है। दिल्ली का घेरा उठाते हुए आन्दोलन केवल स्थगित किया गया है।

पिछली सदी के अंतिम दशकों में शुरू हुए इस किसान आन्दोलन पर एक समग्र दृष्टि डालना ज़रूरी है। आन्दोलन के मुद्दों, आधारभूत विचार, संघर्ष के तरीके और विभिन्न अवसरों पर आन्दोलन के रुझान को देखते हुए यह ज़रूर महसूस होता है कि दशकों से चल रहा यह आन्दोलन साप्राज्यवाद की नींव हिला रहा है। यह विश्व की एक नई व्यवस्था की कल्पना बना रहा है। यह व्यवस्था ऐसे ज्ञान पर आधारित होगी जो उसकी उत्पत्ति और क्रियाशीलता के स्थान से अलग नहीं किया जा सकता। इसमें शासन समाज में वितरित होगा, विनिमय सभी पक्षों के लिए न्यायसंगत होगा तथा जो प्रकृति के साथ दोस्ती, न्याय, त्याग, और भाईचारा के मूल्यों से अनुप्राणित व निर्देशित होगी।

यह आन्दोलन एक ऐसी परम्परा से अनुप्राणित है, जिसमें न्याय और तर्क एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। जो न्याय संगत होता है वही तर्क

संगत होता है, और जो तर्क संगत होता वही न्याय संगत होता है। आज समाज में वितरित ज्ञान (यानि किसानों, महिलाओं, कारोगरों, आदिवासियों, छोटा-छोटा धंधा करने वालों, तरह-तरह की सेवा और मरम्मत का काम करने वालों तथा लोक-कलाकारों का ज्ञान) जिसे लोकविद्या कहते हैं, उस विचार और व्यवहार की परम्पराओं का वाहक है, जिसमें एक नई दुनिया की कल्पना का आधार है और ऐसी दुनिया की ओर आगे बढ़ने के कदमों का इशारा भी।

आन्दोलन का एक विहंगम दृश्य

मुद्दे : ज़मीन का मालिकाना (विस्थापन का विरोध), कृषि उत्पाद के दाम, बिजली के दाम और नियमित आपूर्ति, कर्ज़ माफ़ी, पानी, बीज, खाद, कीटनाशक इत्यादि के दाम और आपूर्ति, सरकारी कर्मचारियों का भ्रष्टाचार, सामाजिक वान्यिकी का विरोध, न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) की कानूनन गारंटी।

प्रसार : तमिलनाडु, कर्णाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि।

संघर्ष के तरीके : रेल रोको, रास्ता रोको, आपूर्ति पर रोक (दूध और गेहूं), शहरों को जाम करना, घेराव, धरना, सत्याग्रह, उपवास, गाँव में राजनैतिक नेताओं के प्रवेश पर रोक, बहुत बड़ी-बड़ी सभा/महासभा, पंचायत/महापंचायत।

रुझान : अपनी बात जोर देकर कहना, असहयोग, शांतिमयता।

विचार : किसान संगठनों का अराजनीतिक होना, भारत-इण्डिया, असमान विनिमय, स्वशासन, काश्तकार-कलाकार-कामगार की एकता, किसान का शोषण गाँव के बाहर से होता है जिसमें उसके ज्ञान और श्रम की लूट होती है, अपने ज्ञान पर भरोसा, संत परंपरा के मूल्यों में आस्था।

नेतृत्व : आन्दोलन का नेतृत्व किसानों के अपने हाथ में होना। कुछ बड़े नाम हैं- नारायण स्वामी नायडू, डॉ. शिवस्वामी, नन्जुंड स्वामी, सुन्दरेशा, शरद जोशी, विजय जावंथिया, बिपिनभाई देसाई, लाभशंकर उपाध्याय, भगूभाई पटेल, किशन पटनायक, महेंद्र सिंह टिकैत, राकेश टिकैत, मांगेराम मलिक, प्रेम सिंह दहिया, समर सिंह 'समर', घासीराम नैन, गुरुनाम सिंह चदुनी, बलबीर सिंह राजेवाल, भूपिंदर सिंह मान, अजमेर सिंह लखोवाल, डॉ. दर्शन पाल, जसप्रीत सिंह उगराहां, दीवानचंद चौधरी और मंडल व जिला स्तर के अनेक किसान नेता।



२०२०-२१ का
ऐतिहासिक किसान आन्दोलन :
झलक और सबक

कविता कुरुगंटी

तीनों कृषि कानूनों की वापसी किसान आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। महिला किसान एक संगठित ताकत के रूप में सामने आयी। आन्दोलन ने ऐसी कई उपलब्धियां हासिल की हैं जो भारत के भविष्य के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण साबित हो सकती हैं। किसान आन्दोलन ने देश की जनता को न्याय और सम्मान हेतु शांतिपूर्ण अहिंसात्मक जनसंघर्षों के लिए असीम प्रेरणा, अपार उत्साह और भरपूर ताकत प्रदान की है।

लाखों किसानों द्वारा दिल्ली की सीमाओं पर साल भर से ज्यादा समय चलाये गए आन्दोलन के दबाव में आकर १९ नवंबर २०२१ को प्रधान मंत्री मोदी ने विवादित तीन कृषि कानूनों को वापस लेने की घोषणा की। इसके पहले जब आल इंडिया किसान संघर्ष कोआर्डिनेशन कमिटी (AIKSCC) ने बिना शर्त अन्य किसान संगठनों के साथ मिलकर इन किसान विरोधी व कॉपरेट वित्तीय कानूनों के खिलाफ संघर्ष करने का फैसला किया था, आन्दोलन का अंजाम यह होगा ऐसा किसी ने सोचा नहीं था। निस्संदेह तीनों कानूनों की वापसी आन्दोलनकारी किसानों की एक ज़बरदस्त जीत है। विशेषकर ऐसे समय जब राष्ट्रीय टीवी चैनलों में किसान समाज की वर्तमान राजनीती और अर्थनीति में कोई सार्थक भूमिका नहीं है, ऐसा कथन राजनीतिक पंडित एवं टिप्पणीकार अक्सर करते थे। लेकिन किसानों ने इस कथन को पूरी तरह झुटला दिया। एक बार जो उठा लिया वो कदम दबाव में कभी वापस न लेनेवाले ताकतवर नेता के रूप में तैयार की गयी उनकी छवि के बावजूद, प्रधान मंत्री महोदय स्वयं किसानों पर तीनों कानून ज़बरन थोपने के बाद उन्हें वापस लेने के लिए आखिर मज़बूर हुए। केंद्र में सत्ता संभालने के बाद पहली बार मोदी जी को मुँह की खानी पड़ी। किसानों ने वह उपलब्धि हासिल की जिसकी कल्पना भी नहीं की गयी थी।

जोश, कुशलता एवं दृढ़ संकल्प के साथ, शांतिपूर्ण लोकतान्त्रिक तरीके

से किसानों द्वारा चलाये गए आंदोलन की सफलता का ठोस नतीजा कानून-वापसी है। साथ में यह भी सच है कि संसद द्वारा तीनों कानून रद्द करने तक आंदोलन वापस न लेने का किसानों का फैसला दोनों पक्षों के बीच मौजूद गहरे अविश्वास का सबूत है। कानून वापसी और आंदोलन वापसी के दरम्यान आंदोलन के अंतर्विरोध भी सामने आये। पंजाब के कई किसान यूनियनों ने हरियाणा, उत्तर प्रदेश एवं अन्य राज्यों के किसान संगठनों पर आंदोलन वापस लेने के लिए दबाव डालना शुरू किया। उनका कहना था कि एमएसपी की लड़ाई के लिए सब लोग ज्यादा ताकत के साथ वापस आएंगे। पंजाब के कुछ किसान यूनियन विधान सभा चुनाव में भाग लेने के लिए बहुत इच्छुक दिखाई दिए। एमएसपी के मुद्दे पर अन्य राज्यों के किसान संगठनों की तुलना में पंजाब के किसान संगठनों का रवैया कुछ ढीला नज़र आया। अनेक चुनौतियों से डटकर मुकाबला कर ३३ महीनों तक लगातार चलनेवाले किसान आंदोलन के अंदर के कुछ मतभेद सामने आ रहे थे।

यह दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि ७०० किसानों के शहीद होने के बावजूद फसलों के लिए लाभकारी मूल्य का कानूनी हक प्राप्त नहीं हो सका। इसके बावजूद इस किसान आंदोलन ने ऐसी कई उपलब्धियां हासिल की हैं जो भारत के भविष्य के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण साबित हो सकती हैं। नीचे इनकी चर्चा की गयी है।

किसानों के दिल्ली की सीमाओं तक पहुँचने तक के घटनाचक्र

नवंबर २०२० में दिल्ली की सीमाओं तक लाखों किसानों के पहुँचने के महीनों पहले से समूचे पंजाब में हर जगह तीनों कृषि कानूनों के खिलाफ विरोध प्रदर्शन हो रहे थे। सड़कों पर, रेलवे स्टेशनों के बाहर, रेल की पटरियों पर, टोल गेटों पर, रिलायंस की दूकानों के सामने, और अदानी के साइलो (भंडारण्ह) पर, सब जगह विरोध प्रदर्शन जारी था। पंजाब राज्य विधान सभा में केंद्र सरकार द्वारा पारित तीनों कानूनों में संशोधन हेतु प्रस्ताव पारित किये गए। हालांकि संवैधानिक दृष्टि से इसका कोई अर्थ नहीं था – सिवाय एक प्रतीकात्मक विरोध के। संयुक्त किसान मोर्चे के गठन के बाद जब दिल्ली पर अनिश्चितकालीन विरोध-प्रदर्शन का फैसला लिया गया, तब तक मोदी सरकार ने ३२ किसान संगठनों के प्रतिनिधियों को एक मंत्रि-स्तरीय टीम के साथ वार्ता करने हेतु निमंत्रण भेजा था। इससे पहले अधिकारियों की टीम के साथ प्रस्तावित वार्ता का किसानों ने बहिष्कार किया था। २६, २७ नवंबर को जो भी हुआ वह

अभूतपूर्व था। केंद्र, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड की भाजपाई सरकारों द्वारा किसानों को दिल्ली पहुँचने से रोकने की हर संभव प्रयास किये गए, लेकिन आंदोलनकारी किसान रास्ते में खड़े किये गए सारे अवरोधों को पार कर दिल्ली की सीमाओं तक पहुँचे और मुख्यमार्गों पर धरना पर बैठ गए। रातों-रात बीच सड़क पर प्रदर्शनकारियों की बस्तियां बस गईं।

तेरह महीनों तक किसानों का विरोध प्रदर्शन अखबारों की सुर्खियों पर हावी रहा। संयुक्त किसान मोर्चा (SKM, एसकेएम) का प्रतिनिधि मंडल केंद्र सरकार की टीम से वार्ता हेतु कुल ११ बार विज्ञान भवन गयां। हर बार टीवी चैनलों पर ब्रेकिंग न्यूज और लाइव कवरेज किया जाता था। किसानों का इस प्रकार का मीडिया कवरेज काफी वर्षों बाद हो रहा था। किसानों का प्रतिनिधि मंडल जैसे ही दिल्ली की सीमाओं के अंदर प्रवेश करता था, उसके साथ व्हीआइपी जैसा व्यवहार किया जाता। इसमें पायलट गाड़ियों की व्यवस्था और सड़कों को खाली करवाना शामिल था। किसान नेताओं के साथ इस प्रकार का भव्य व्यवहार पहली बार ही देखने को मिला। भारी संख्या बल और आंदोलन के सरल और नूतन व्यावहारिक तरीकों ने सब का ध्यान आकृष्ट किया। सरकारी मेहमान-नवाजी ठुकरा विज्ञान भवन के अंदर लंगर लगाकर जिस शालीनता और आत्मसम्मान के साथ किसानों ने स्वयं के लिए प्रसाद (भोजन) की व्यवस्था की उस से सोशल मीडिया में चहकने वालों की बोलती बंद हो गयी। वार्ताओं में भाग लेने जाते समय स्वयं के खर्च पर बसों की व्यवस्था करना भी उल्लेखनीय रहा। इस आंदोलन के दौरान किसान के आत्म-सम्मान का परचम खूब लहराया।

सांगठनिक पहलू

दिल्ली की सीमाओं पर रातों-रात बसी विरोध-बस्तियां किसानों की अपार सांगठनिक क्षमताओं का प्रत्यक्ष सबूत हैं। आंदोलन के पूरे दरम्यान पंजाब, हरयाणा, उत्तर प्रदेश और दिल्ली के किसान खाद्य सामग्री (अनाज, आटा, सब्जी, दूध) विभिन्न स्थानों पर आयोजित लंगरों में उपभोग हेतु आपूर्ति करते रहे। कई वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैले आंदोलन स्थल में ये लंगर बिखरे हुए थे। किसान आंदोलन का समर्थन करनेवाली कई संस्थाओं ने स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने हेतु विरोध बस्तियों के बीच कैंप चलाये। रसोई घरों का कचरा और अन्य कचरा सुबह एकत्रित किये जाते थे, और मोर्चा क्षेत्र में विभिन्न स्थानों

पर खोदे गए बड़े-बड़े कम्पोस्ट के गड्ढों में पहुंचाए जाते थे। जैसे जैसे मौसम ठण्ड से गर्मी और गर्मी से बारिश में बदलता गया, तदनुरूप आवासीय व्यवस्थाएं भी बदलती गयीं - ट्रैक्टर ट्रॉली में नीचे धान की भूसी फैलाना और ऊपर टेंट का इंतेजाम करना, चारों तरफ बाड़ और बीच में आँगन सजाना आदि तमाम कार्य इन व्यवस्थाओं में शामिल थे। पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के गाँवों से किसान बारी-बारी से आते थे, और दो सप्ताह विरोध-बस्तियों में ठहरने के बाद वापस जाते थे जिससे उनकी खेती-बाड़ी का काम अबाध रहे। राजस्थान के किसान जिस शाहजहांपुर सीमा पर बस गए थे, वहां पर भी ऐसी व्यवस्थाएं की गयी थीं।

जब भाजपा-आरएसएस के तत्वों द्वारा किसानों के मोर्चों पर हमले किये गए, युवा किसान कार्यकर्ता स्वयं अपनी टोलियों का गठन कर रात के समय गश्त लगाया करते थे। मंच-समितियां गठित की गयीं थीं जिनकी जिम्मेदारियों में चंदा इकट्ठा कर रसीद देना, एकत्रित चंदे के खर्च संबंधी निर्णय लेना, और हिसाब का ब्यौरा किसानों के साथ साझा करना शामिल थीं।

किसानों का सांगठनिक कौशल मात्र रहने, खाने, स्वास्थ्य आदि की व्यवस्थाओं तक सीमित नहीं था। आंदोलन के तौर तरीके, रणनीति आदि से संबंधित सांगठनिक कार्यों में भी किसानों ने अपना कौशल दिखाया। विरोध-बस्तियां स्वयं आंदोलन का एक अनोखा तरीका सिद्ध हुईं। किसानों को छोड़कर समाज के अन्य वर्ग इस हथियार का प्रयोग कर नहीं सकेंगे। क्योंकि आंदोलन के लिए स्वयं का शरीर ही हथियार के रूप में उन्हें उपलब्ध है। लेकिन खाने पीने की खाद्य सामग्री, रहने के लिए ट्रैक्टर ट्रॉली और टेंट के सामान आदि संसाधन खुद के पास होने के कारण विरोध-बस्ती का प्रयोग आंदोलन के हथियार के रूप में करने में किसान सक्षम है।

विरोध प्रदर्शन के विभिन्न प्रकार सामने आये - टोल प्लाजाओं पर कब्जा कर वसूली रुकवाना, रेलवे पटरियों और सड़कों का चक्का जाम करना, हाइवे में धरना देकर यातायात बंद करना, आदि। विशेष महत्त्व के दिनों में हडताल - भारत बंद - के आयोजन किये गए। इसके के अलावा सामाजिक सांस्कृतिक और क्रान्ति के प्रतीकों का इस्तेमाल आंदोलन में ऊर्जा फूंकने के लिए किया गया। महिला एवं आदिवासी किसानों को गोलबंद कर खास दिनों पर विशाल सभाएं आयोजित की गयीं। २०२१ के मानसून सत्र में जंतर मंतर पर

सरकारी संसद के समानांतर किसान संसद का भी आयोजन किया गया। अत्यधिक सुरक्षा के घेरे में भारी पुलिस व्यवस्था के बीच आयोजित होने के बावजूद इस आयोजन को व्यापक मीडिया कवरेज प्राप्त हुआ।

किसान आंदोलन का सबसे बड़ा शक्ति प्रदर्शन खाप महापंचायतों के रूप में हुआ। विभिन्न नामों से इनका आयोजन पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तमिल नाडु, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ आदि राज्यों में हुआ। भारी संख्या में किसानों ने इन महापंचायतों में भाग लिया। शक्ति प्रदर्शन के अलावा, किसान आंदोलन का सन्देश देश के सुदूर इलाकों तक पहुंचाने और किसानों को आंदोलन से जोड़ने, आंदोलन के संबंध में सूचनाएं संप्रेषित करने, राज्य और केंद्र स्तरीय राजनीतिक रणनीतियों पर चर्चा करने, और किसान आंदोलन के नवीनतम घटनाक्रमों के संबंध में जानकारियां साझा करने के प्रयास भी इन महापंचायतों के माध्यम से किये गए।

दो खास घटनाओं ने आंदोलन को नए मोड़ दिए

पहली घटना २६ जनवरी २०२१ को गणतंत्र दिवस पर दिल्ली में आयोजित टरेक्टर रैली थी। किसानों की ओर से टरेक्टर परेड का आयोजन वर्तमान भारत में किसान समाज के लिए न्यायोचित स्थान की मांग की अभिव्यक्ति था। दूसरी घटना थी ३ अक्टूबर २०२१ को उत्तर प्रदेश स्थित लखीमपुर खीरी में शांतिपूर्ण तरीके से आंदोलन कर रहे किसानों पर भाजपा के केंद्रीय मंत्री के बेटे के काफिले का कातिलाना हमला, जिसमें कई किसान गाड़ियों के नीचे आकर कुचले जाने के कारण मारे गए। आंदोलनकारी किसानों और समर्थक समूहों में दूसरी घटना के कारण जबरदस्त गुस्से की लहर दौड़ गई। मरनेवाले किसानों के अस्थिकलशों को लेकर विभिन्न राज्यों में यात्रायें निकाली गयी और देश के विभिन्न नदियों में अस्थियां विसर्जित की गयीं।

आंदोलन की रणनीति

अर्थव्यवस्था में उत्पादन कार्यों से जुड़े लोगों के सबसे बड़े हिस्से के प्रतिनिधि होने के नाते किसान आंदोलन ने चुनी हुई सरकार को अपनी लड़ाई के केंद्र में लगातार बनाये रखा। आंदोलन को भटकाने और तोड़ने के लिए सरकार जो साजिशें रच रही थी, जैसे सुप्रीम कोर्ट का हस्तक्षेप, इस कारण नाकाम हो गयीं।

हरियाणा, उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड की सत्तारूढ़ भाजपा और हरियाणा की जेजेपी जैसी समर्थक पार्टियों के नेताओं का सामाजिक बहिष्कार, उनकी सभाओं का बहिष्कार, गावों में उनके प्रवेश पर रोक, आदि तरीकों से उनपर भारी दबाव डाला गया।

नए नए क्षेत्रों में आंदोलन फैलाने के लगातार प्रयास किये गए। दिल्ली सीमा पर सिंधु और टिकरी के आलावा शाजीपुर और शाहजहांपुर प्रवेश मार्गों पर भी किसान धरने पर बैठ गए। कई राज्यों में धरना प्रदर्शन और टोल प्लाजाओं पर वसूली रोक के आंदोलन छेड़े गए। वर्धा (महाराष्ट्र), रीवा (मध्य प्रदेश) और पटना (बिहार) में भी समर्थन में आंदोलन चलाये गए।

२८ जनवरी २०२२ के बाद खाप महापंचायतों का आयोजन हुआ और पहली बार खाप पंचायतों की पहचान प्रतिगामी जातिगत संगठनों की जगह किसान संगठनों के रूप में होने लगी। खाप पंचायतों ने आंदोलन कर रहे किसानों की भोजन व्यवस्था हेतु खाद्य सामग्री की आपूर्ती की। आंदोलन में सीधी भागीदारी भी की।

शहरी मज़दूरों की यूनियनों के साथ संयुक्त आंदोलन आयोजित करना भी रणनीति का हिस्सा था। किसान और मज़दूरों के बीच सहयोग की नीति अपनायी गयी। एसकेएम द्वारा आंदोलन के विभिन्न कार्यक्रम कृषि पंचांग को ध्यान में रख कर तय किये गए जिससे कृषि कार्य प्रभावित न हो।

आंदोलन के पूरे १३ महीने एसकेएम ने सोशल मीडिया में एक सशक्त उपस्थिति दर्ज की। आंदोलन का अपना फेसबुक पेज और यूट्यूब चैनल तैयार किये गए, जिन्हें लाखों लोगों ने फॉलो किये। आंदोलन के समर्थक संगठनों और व्यक्तियों ने भी सोशल मीडिया में अपने अपने पेज या चैनल चलाये। पहली बार स्थापित अखबारों और टीवी चैनलों ने भी आंदोलन का व्यापक कवरेज किया।

एसकेएम के नेतृत्व ने विभिन्न राज्यों में यात्रा कर पूरे देश के किसानों को आंदोलन से जोड़ने का प्रयास किया। यह सफल इसलिए हुआ क्योंकि आंदोलन का नेतृत्व परस्पर विश्वास पर आधारित बड़ा समूह कर रहा था। इस वजह से टीवी चैनलों पर चर्चाओं में भी किसान आंदोलन की तरफ से बात करनेवाले नेताओं की कमी नहीं थी।

किसान आंदोलन का सबसे सफल हथियार चुनावों में भाजपा के खिलाफ प्रचार साबित हुआ, जिस कारण आखिर सरकार को तीनों कानून वापस लेने

पड़े। जिन जिन राज्यों में चुनाव हुए वहां 'किसान के दुश्मन भाजपा को हराओ!' का आवाहन किया गया जिसका किसानों ने तहे-दिल स्वागत किया। सीएसडीएस-लोकनीति द्वारा किये गए सर्वेक्षण के अनुसार कृषि का मुद्दा वोटरों के लिए एक अहम मुद्दा था। उत्तर प्रदेश में भाजपा के अपेक्षतया कमज़ोर प्रदर्शन के पीछे का कारण भी यही था।

आंदोलन के आधारभूत मूल्य एवं संगठन के सिद्धांत

आधारभूत मूल्य एवं संगठन की दृष्टि से भावी जन आनंदोलनों को कैसे चलाना चाहिए इस संबंध में बहुत कुछ सीखने को मिला। पर सुधार की गुंजाई भी काफी है। एसकेएम ने आंदोलन का संचालन विस्तृत नेतृत्व मंडली के माध्यम से किया। नेतृत्व किन्हीं एक या दो व्यक्तियों में निहित नहीं था। आम सहमति के माध्यम से सामूहिक निर्णय लिए गए।

आंदोलन की विश्वसनीयता बरकरार रखने के उद्देश्य से सभाओं व प्रदर्शनों के दौरान मंच पर किसी भी राजनीतिक पार्टी के नेता को स्थान नहीं दिया गया। पार्टियों के नेता आंदोलन स्थलों पर ज़खर गये, लेकिन उन्हें मंच से भाषण करने नहीं दिया गया।

सिख धर्म के 'सेवा एवं शहादत' के मूल्य आंदोलन की उल्लेखनीय विशेषता थी। आंदोलन के भागीदार स्वेच्छा से हर प्रकार की सेवा के लिए आगे आये - चाहे वह दूसरों के कपड़े धोने की हो, लंगरों में कार-सेवा की हो, आंदोलन बस्ती में बिजली की व्यवस्था में मरम्मत की हो, रात में बस्ती की सुरक्षा हेतु गश्त लगाने की हो, सड़कों या नालियों की सफाई हो, ऑटो-रिकशा से स्थानीय लोगों की आवाजाही का प्रबंधन हो, या आंदोलनकर्ताओं के लिए मुफ्त में कपड़ों की सिलाई हो। आंदोलन के लिए अपनी जान कुर्बान करने तक किसान तैयार थे।

सेवा एवं शहादत की बराबरी के ही मूल्य थे शान्ति, अहिंसा और धीरज। आंदोलनकारी हमेशा आश्वस्त थे कि विपरीत परिस्थितियों के बावजूद आखिर न्याय की स्थापना होगी। यह भावना उनकी आजीविका - खेती-किसानी - का एक अभिन्न हिस्सा मालूम पड़ती है, जहाँ चुनौतियों के बावजूद मौसम दर मौसम किसान अपने व्यवसाय में आशा और धीरज के साथ लगे रहते हैं।

किसान आंदोलन की उपलब्धियां

तीनों कृषि कानूनों की वापसी किसान आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

आंदोलन का सरकार पर भारी दबाव कायम रहा, जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न तरीकों से प्रकट हुई। किसानों के दिल्ली पहुंचने के पहले ही केंद्र सरकार ने किसानों को वार्ता के लिए आमंत्रित किया था। कानून वापस लेने की बात को छोड़, सरकार किसानों की कोई भी मांग मानने के लिए तैयार थी, जिसमें कानूनों में संशोधन करना और दो-चार वर्षों के लिए कानूनों के क्रियान्वयन पर रोक लगाना भी शामिल था। सरकार किसानों की दो अन्य मांगें - बिजली संशोधन बिल के दायरे से मुक्त करना और दिल्ली एयर क्लिटी एक्ट के दायरे से मुक्त करना - भी मानने के लिए तैयार थी। पूरे समय आंदोलन समाप्त करने के लिए अनौपचारिक वार्ताएं पीछे के रास्ते चलती रहीं, जिसका मुख्य मक्सद सरकार की लाज किसी तरह बचाना था।

एक उल्लेखनीय उपलब्धि यह थी कि सुप्रीम कोर्ट ने सरकार के खिलाफ शांतिपूर्ण विरोध प्रदर्शन करने के किसानों के अधिकार के पक्ष में अपना फैसला सुनाया। साथ में, सरकार पर दबाव कम करने के उद्देश्य से तीनों कानून के क्रियान्वयन पर रोक लगायी और एक कमेटी भी बनायी, जिसकी रिपोर्ट का आज तक न सुप्रीम कोर्ट ने और न ही सरकार ने संज्ञान लिया है।

किसानों के मुद्दे लम्बे अंतराल के बाद राष्ट्रीय परिचर्चा के विषय बने, यह आंदोलन की बड़ी सफलता है। चुनावों के नतीजे निर्णायक रूप से प्रभावित करने की किसानों की ताकत को भी इस आंदोलन ने स्पष्ट कर दिया है। बड़ी संख्या में युवा किसानों ने आंदोलन में भाग लिया और वे किसान होने पर स्वयं गर्वित महसूस करने लगे। 'किसान नहीं तो खाना नहीं; खाना नहीं तो भविष्य नहीं' आंदोलन का यह नारा सब जगह गूंजा। अन्य वर्गों का किसानों के प्रति सम्मान के साथ साथ किसानों के स्वयं के आत्मसम्मान की पुस्तोपना भी आंदोलन की खासियत थी।

व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपों में किसान समाज की एकता और संगठन की ताकत सब ने महसूस की। विभिन्न राज्यों, क्षेत्रों, विचारधाराओं, और कार्यपद्धतियों से लैस अनेक किसान संगठनों ने आंदोलन के दौरान एक

दूसरे के साथ मिलकर काम करने और एक दूसरे से सीखने की एक शुरुआत की है, जो आगे के आंदोलनों को सफल बनाने में निर्णायक सिद्ध होगा।

आंदोलन के दौरान गाँवों की जाति-धर्म की विभाजन रेखायें धूमिल होने लगीं और दोस्ती और भाईचारे का वातावरण तैयार हुआ। मीणा और गुज्जर बिरादरी संयुक्त रूप से कार्यक्रम आयोजित करने लगे तथा जाट एवं मुस्लिम किसान पुराने सांप्रदायिक दंगों को भूलने लगे।

महिला किसान एक संगठित ताकत के रूप में सामने आईं। पुरुष किसान महिला किसानों को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। खाप पंचायतों ने पिछड़ेपन की छवि त्याग कर परिवर्तनशील भूमिका अपनायी।

राजनेताओं ने महसूस किया कि उन्हें अपनी जिम्मेदारियों का बोध दिलाने की क्षमता और ताकत दोनों जनता के पास हैं और सामाजिक बहिष्कार के द्वारा उन्हें झुकाने की ताकत भी। यह भी आंदोलन की एक प्रमुख उपलब्धि थी।

सबसे बड़ी उपलब्धियों में एक यह भी है कि देश में सत्ता का आतंक और निरंकुश तानाशाही स्थापित करने की जो प्रक्रिया चल रही थी, उसे रोकने का और लोकतांत्रित मूल्यों की पुनर्स्थापना का कार्य आंदोलन ने किया। ‘लोकतंत्र बचाओ’ की भूमिका में भी आंदोलन कई बार नज़र आया।

देश की विपक्षी पार्टियों को किस दिशा में और किस उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ने की आवश्यकता है इसका स्पष्ट संकेत - अस्तित्व के लिए जूझने वाले किसान और अन्य समाजों के संघर्षों को आगे बढ़ाना - भी आंदोलन ने दिया। किसान आंदोलन ने देश की जनता को असीम प्रेरणा, अपार उत्साह और भरपूर ताकत प्रदान की है। न्याय और सम्मान हेतु शांतिपूर्ण अहिंसात्मक जनसंघर्षों के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हुआ।

समाज की पुनर्रचना और किसान आंदोलन

भावी समाज निर्माण की चर्चा के सन्दर्भ में यह कहना उचित होगा कि किसान और खेती के भविष्य की एक सुस्पष्ट कल्पना देश के सामने रखने में किसान आंदोलन असफल रहा। मोटे तौर पर पारिस्थितिकीय समझ का अभाव दिखाई दिया। टिकाऊ विकास के मुद्दे पर आंदोलन मौन था। इसी प्रकार जहाँ महिला किसानों की भागीदारी अभूतपूर्व थी, महिलाओं के प्रश्न को लेकर आंदोलन में कोई संवाद नहीं था, न ही महिलाओं के लिए पृथक स्थान निर्धारित

था। भाग लेने वाली महिलाओं की भूमिका आंदोलन में पुरुषों की अपेक्षा जौन थी और उनके मातहत थी। आंदोलन पर पुरुष प्रधान ‘जाट’ संस्कृति हावी रही और दलित किसान और उनके मुद्दों पर कोई चर्चा नहीं हुई। वास्तविकता यह थी कि आंदोलन के समय पंजाब में दलित भूमिहीन किसानों का संघर्ष चल रहा था लेकिन दलित किसान और उनके मुद्दे नज़र अंदाज़ किये गए।

समतामूलक एवं टिकाऊ समाज रचना के उद्देश्य को लेकर चलाये जाने वाले आंदोलनों में जन भागीदारी और उद्देश्यप्राप्ति दोनों सुनिश्चित करना हमेशा कठिन रहा है। इसके विपरीत, किसी खास घटना की प्रतिक्रिया स्वरूप उठने वाले स्वयंस्फूर्त आन्दोलनों में कोई दूरगामी उद्देश्य अक्सर नहीं होते हैं। तीन कृषि कानूनों के विरोध में खड़ा हुआ यह किसान आंदोलन दूसरे प्रकार का था। सुस्पष्ट दूरगामी उद्देश्यों का अभाव था।

जिन समस्याओं से किसान जूझ रहे हैं उनका हल किसानों के सामने रखने में आंदोलन विफल रहा। सबसे बड़ी विफलता यह थी कि एमएसपी को कानूनी अधिकार बनाने की मांग पूरी होने के पहले ही आंदोलन स्थगित किया गया। अंतिम दिनों में इस मुद्दे को लेकर पंजाब के किसान यूनियन और अन्य राज्यों के किसान यूनियनों के बीच मतभेद साफ़ नज़र आने लगे थे। इसके पीछे यही कारण है कि एमएसपी पर गेहूँ और धान की सरकारी खरीद के मामले में पंजाब की स्थिति अन्य राज्यों की अपेक्षा काफी अच्छी है। लेकिन पंजाब के कृषि और पर्यावरण के संकट का असल समाधान मात्र दो फसलों की सरकारी खरीद की नीति से संभव नहीं है। यह आवश्यक है कि पंजाब के किसान भी अन्य राज्यों के किसानों के साथ मिलकर देश के सारे किसानों के लिए एमएसपी का कानूनी अधिकार मांगें।

इस बात का भी जिक्र करना जरूरी है कि पंजाब के किसान यूनियनों की बराबरी का नेतृत्व प्रदान करने में अन्य राज्यों के किसान यूनियन असफल रहे। यदि वे पंजाब के किसान यूनियनों की बराबरी की सक्रियता दिखाते तो एमएसपी के कानूनी अधिकार की मांग जौन नहीं होती। और जिस मांग से सरकार सबसे ज्यादा डरती है, उस मांग को मनवाने में आंदोलन सफल होता।

भौगोलिक वास्तविकता ऐसी है कि पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के किसान दिल्ली में अपना शक्ति प्रदर्शन करने में अन्य राज्यों के किसानों की तुलना में कहीं ज्यादा सफल हैं। दिल्ली को आंदोलन स्थल बनाना अन्य राज्यों

के किसानों के लिए कठिन है। अतः कृषि नीति-निर्धारण का कार्य राज्यों को हस्तांरित करने हेतु एक देशव्यापी आंदोलन चलाने की आवश्यकता है। तभी हर राज्य के किसान संगठन आंदोलन कर अपनी-अपनी राज्य सरकारों को झुकाने और अपनी मांगें मनवाने में सफल होंगे।

भावी आन्दोलनों के लिए अतिमहत्वपूर्ण है कि अपना विस्तृत मांग-पत्र आंदोलन शुरू करने के पहले ही तैयार करें और उन मुद्रों की पहचान पहले ही से सर्वसम्मति से करें, जिनको लेकर सरकार के साथ कोई समझौता नहीं किया जाएगा। आंदोलन के दूरगमी और तात्कालिक लक्ष्यों पर स्पष्टता होना आवश्यक है।



क्लास वॉर

१९८२ की फरवरी में ‘मजदूर किसान नीति’ की पहल पर किसान आन्दोलन के नेताओं की एक बैठक कानपुर में गंगाजी के किनारे बिठूर में बुलाई गई। आन्दोलन के शुरूआती दिन थे। सबमें बड़ा जोश था। किसान आन्दोलन में सक्रिय नौजवानों और किसान आन्दोलन के नेताओं समेत लगभग ५० लोग उपस्थित थे। कर्णाटक, महाराष्ट्र, दिल्ली, हरियाणा और पंजाब में आन्दोलन से सम्बंधित बातें तथा आन्दोलन का सैद्धांतिक आधार चर्चा में रहे।

इसी बैठक में पंजाब के भारतीय किसान यूनियन के नेता श्री बलबीर सिंह राजेवाल ने ऐसी बात कही जो याद ही रह गई। उन्होंने कहा, ‘ये क्लास वॉर है’।

वर्ष २०२०-२२ किसान आन्दोलन के कुछ चित्र



१. संयुक्त किसान मोर्चा के नेतृत्व में हुए किसान आन्दोलन (२०२०-२२) के प्रमुख किसान नेता दाहिने से बलबीरसिंग राजेवाल, राकेश टिकैत, दर्शन पाल, योगेन्द्र यादव और अन्य.



२. शिवमोगा पंचायत में दर्शन पाल, युद्धवीर सिंह, राकेश टिकैत और कर्णाटक के किसान नेता



३. गाजीपुर बोर्डर पर किसान नेता युद्धवीर सिंह, राकेश टिकैत, दर्शन पाल, गुरनामसिंह चढ़नी, बलबीर सिंह राजेवाल और अन्य किसान नेता गण.



४. दिल्ली में सिन्धु बॉर्डर पर जुटे किसान



५. पंजाब बीकेयू उगराहां रैली



६. महिला किसान पंचायत



७. मुज़फ्फरनगर किसान महापंचायत



८. शामली किसान महापंचायत फरवरी २०२१

किसान आंदोलन एवं नयी सामाजिक व्यवस्था

कृष्ण गाँधी

अर्थवादी चरित्र के बावजूद दिल्ली सीमाओं पर चला किसान आंदोलन पूर्व के किसान आंदोलनों से कई महत्वपूर्ण मामलों में भिन्न मालूम पड़ता है। आंदोलन का नेतृत्व सामूहिक था। सारे निर्णय सर्वसम्मति से लिए गए। सिख समाज और खाप पंचायतों का भारी योगदान रहा। गोलबंदी पूरे समाजों की थी, न कि कुछ खास वर्ग विशेष की। इस आंदोलन ने एक नयी शोषण मुक्त सामाजिक व्यवस्था के जन्म की आशा जगाई है।

प्रस्तावना

गत वर्ष १९ दिसम्बर को दिल्ली सीमाओं पर एक साल से अधिक समय चला किसान आंदोलन स्थगित किया गया। शोषण मुक्त समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील सामाजिक राजनीतिक कार्यकर्ताओं के एक बड़े समूह में इस आंदोलन ने एक नयी सामाजिक व्यवस्था के जन्म की आशा जगाई है। बावजूद इसके कि स्वतंत्र भारत में १९७० के दशक से शुरू हुए सारे किसान आंदोलनों की मांगें आर्थिक ही रहीं हैं। फसलों के लिए लाभकारी मूल्य हमेशा किसान आंदोलन की मौलिक मांग रही है। सारे देश के किसान आंदोलन में जो भी आपसी मतभेद हों, वे केवल इस मांग को कैसे पूरा किया जा सकता है इसको लेकर हैं। किसान आंदोलन का नेतृत्व करनेवाला एक समूह यह मानता आया है कि केंद्र और राज्य सरकारों की ही जिम्मेदारी है कि वे किसानों को लाभकारी मूल्य दिलाएं। वर्षी शरद जोशी के नेतृत्व करनेवाले दूसरे समूह की मान्यता है कि राज्यों के सारे हस्तक्षेपों से मुक्त एक स्पर्धात्मक बाजार ही सुनिश्चित कर पायेगा कि किसानों को लाभकारी मूल्य प्राप्त हो। दिल्ली बॉर्डर पर चले किसान आंदोलन के नेतृत्व के अनुसार किसानों को लाभकारी मूल्य देना सरकारों की, विशेषकर केंद्र सरकार की, जिम्मेदारी है। इसलिए उन तीन नए कृषि कानूनों की वापसी की मांग उठी जिनकी आड़ में अपनी इस जिम्मेदारी से मुक्त होने की कोशिश केंद्र सरकार कर रही थी। एक नयी मांग भी उठी है कि उन सभी २३ फसलों के लिए एमएसपी कानूनन अनिवार्य कराये जाएँ, जिनका न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) केंद्र सरकार घोषित करती है। इस नयी मांग के आधार पर यह

संभावना बनती है कि किसान आंदोलन में मौजूद वैचारिक मतभेद काफी हद तक शिथिल हो जायगा। केंद्र सरकार ने इस मांग को मानना तो दूर, इसपर विचार करने के लिए कमेटी तक का गठन नहीं किया है, जिसका कि लिखित वादा किया गया था।

किसान आंदोलन का अर्थवादी चरित्र

कहा जा सकता है कि दिल्ली सीमाओं पर चला नवीनतम किसान आंदोलन भी अब तक के किसान आन्दोलनों के अर्थवादी चरित्र से आगे नहीं बढ़ा है। सारी फसलों के लिए कानूनन अनिवार्य एमएसपी की मांग के आगे केंद्र-राज्य संबंधों को संघीय आधार पर गढ़ने की मांग इस आंदोलन ने नहीं उठायी। हालाँकि तीन नए कृषि कानून सारी संघीय मान्यताओं को ताक पर रख कर, राज्य सरकारों से किसी भी प्रकार के परामर्श के बगैर, यहाँ तक संसद में भी चर्चा किये बिना अध्यादेशों के माध्यम से केंद्र सरकार ने राज्यों पर और किसानों पर थोप दिए थे। कृषि का विषय संविधान की राज्य सूची में दर्ज होने के कारण इस पर नीति-निर्धारण राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में बैठता है। इस सब के बावजूद संयुक्त किसान मोर्चा ने संघीय मर्यादाओं को बरकरार रखने संबंधी कोई मांग नहीं उठायी। यह ज़रूर है कि संयुक्त किसान मोर्चा ने केंद्र में सत्तासीन भारतीय जनता पार्टी को राज्य विधान सभा चुनावों में हराने का कार्यक्रम चलाया। जहाँ पश्चिम बंगाल के चुनावों में भले ही संयुक्त किसान मोर्चे के आह्वान का थोड़ा बहुत असर रहा हो, पर पंजाब और विशेषतः उत्तर प्रदेश के विधान सभा चुनावों में किसान आंदोलन का निर्णायक प्रभाव नहीं दिखाई दिया, जिसकी कि अपेक्षा की जा रही थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान आंदोलन के केन्द्र रहे दो जिले श्यामली और मुज़फ्फरनगर को छोड़कर निर्णायक प्रभाव कहीं नहीं पड़ा। पंजाब चुनावी नतीजे किसान आंदोलन की दृष्टि से दयनीय रहे। संयुक्त किसान मोर्चे के दो प्रभावी नेता बलबीर सिंह राजेवाल एवं गुरनाम सिंह चढ़ूनी अपनी-अपनी राजनीतिक पार्टियों का गठन कर चुनाव में उतरे, मगर उन्हें कोई सफलता हासिल नहीं हुई। वे स्वयं चुनाव में उम्मीदवार के रूप में खड़े हुए, पर बुरी तरह हार गए। संयुक्त किसान मोर्चा ने विपक्षी पार्टियों को एक झंडे तले लाने और भाजपा के खिलाफ देशव्यापी राजनीतिक मोर्चा खोलने जैसी कोई पहल नहीं शुरू की है।

संक्षेप में, किसान आंदोलन ने आज तक एक अर्थवादी आंदोलन की ही

भूमिका निभाई है। हालाँकि किसान आंदोलन की आर्थिक मांगों के क्रियान्वयन से भारतीय समाज में दूरगमी परिवर्तन ज़रूर होगा, पर एक नयी सामाजिक व्यवस्था की स्पष्ट व्याख्या, अभिव्यक्ति या कार्यक्रम किसान आंदोलन के नेतृत्व ने देश के सामने अब तक नहीं रखा है।

नवीनतम किसान आंदोलन के कुछ विचारणीय पहलू

उपरोक्त अर्थवादी चरित्र के बावजूद दिल्ली सीमाओं पर चला किसान आंदोलन पूर्व के किसान आंदोलनों से कई महत्वपूर्ण मामलों में भिन्न मालूम पड़ता है। इनमें से कुछ मामलों के बारे में स्वयं संयुक्त किसान मोर्चे के शीर्ष नेताओं ने समय-समय पर चर्चा की है।

- यह एक राष्ट्रीय आंदोलन रहा है और इसे राष्ट्रीय आधार देने का सचेत प्रयास भी किया गया। शुरू में आंदोलन पंजाब और हरयाणा से शुरू ज़रूर हुआ लेकिन शीघ्र ही वह उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तमिल नाडु, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल जैसे प्रांतों तक भी फैला। देश के विभिन्न हिस्सों में कार्यरत छोटे बड़े बहुत सारे किसान संगठनों को एकसाथ लाने में आंदोलन सफल रहा।
- आंदोलन का नेतृत्व सामूहिक था - ३२ सदस्यीय संयुक्त किसान मोर्चे ने सारे निर्णय सर्वसम्मति से लिए। किसान आंदोलन के इतिहास में अब तक नेतृत्व व्यक्ति-प्रधान रहा है, जिस कारण राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय दोनों प्रकार के आंदोलनों के नेतृत्व में अब तक सामूहिकता का अभाव देखा गया था। लेकिन वर्तमान आंदोलन के नेतृत्व की सामूहिकता एवं सर्वसम्मति से निर्णय लेने की परिपाठी से किसान आंदोलन की व्यापकता और उसमें भागीदारी बढ़ी।
- पहली बार किसान आंदोलन को न केवल ग्रामीण क्षेत्रों से, बल्कि शहरी क्षेत्रों से भी व्यापक समर्थन मिला।
- सिख समाज व गुरुद्वारों ने किसान आंदोलन का पूरा समर्थन दिया। भोजन, आवास, स्वास्थ्य जैसी सेवायें आंदोलनकारी किसानों को मुहैया करने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी सिख समाज ने निभाई। आंदोलन के एक साल से ज्यादा समय सफलतापूर्वक चलने के पीछे सिख समाज का भारी योगदान रहा।

- २६ जनवरी २०२१ के ट्रैक्टर रैली के अनियंत्रित होने से उत्पन्न विषम परिस्थितियों में आंदोलन को बचाने और उसे ज़िंदा रखने का महत्वपूर्ण कार्य पश्चिमी उत्तरप्रदेश के खाप पंचायतों ने किया। देश के विभिन्न हिस्सों में आंदोलन को फैलाने के कार्य में भी खाप पंचायतों ने बड़ी भूमिका निभाई।
- किसान अंदोलन को विदेशी मीडिया में बड़ा स्थान मिला। विदेशों में बसे सिखों और उनके संगठनों के अलावा कई ख्याति-प्राप्त अंतर्राष्ट्रीय हस्तियों ने आंदोलन का समर्थन किया। दिल्ली की सीमाओं पर जमा हुए आंदोलनकारी किसानों को तितर-बितर करने हेतु सरकार द्वारा पुलिस बल का प्रयोग न करने का एक कारण विदेशी मीडिया कवरेज भी रहा।

समाजों की गोलबंदी एवं भागीदारी

इन सब बातों में सबसे महत्वपूर्ण बात सिख समाज द्वारा आन्दोलन को मिले समर्थन की है। यहीं वजह थी कि आंदोलन एक साल से ज्यादा समय चल पाया। सिख समाज ने आंदोलन को क्यों समर्थन दिया इस बात पर मतभेद हो सकते हैं; लेकिन मुझे लगता है कि सिख समाज ने स्वयं किसान आंदोलन के साथ तादात्म्य स्थापित किया, यहीं सबसे बड़ा कारण है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और देश के अन्य भागों से खाप पंचायतों द्वारा दिया गया समर्थन भी कम महत्व नहीं रखता। विशेषकर २६ जनवरी २०२१ की हादसे के बाद आंदोलन को पुनर्जीवित करने का काम खाप पंचायतों ने किया।

समाज क्या है और कैसे गठित होता है?

सिख समाज और खाप पंचायत दोनों की गोलबंदी मार्क्सवादी वर्ग विश्लेषण के माध्यम से समझना असंभव है। गोलबंदी पूरे समाजों की थीं, न कि कुछ खास वर्ग विशेष की। यह अंतर महत्वपूर्ण है क्योंकि समाज कई वर्गों से बना होता है। जहाँ वर्ग विभाजन का आधार आर्थिक है, वहाँ सामाजिक चेतना का आधार केवल आर्थिक नहीं है। समाज साझा मूल्यों के आधार पर गठित होते हैं उन्हीं के आधार पर समाज के अंदर और बाहर की गतिविधियां निर्धारित होती हैं। समाज के सदस्यों के उसी समाज के अन्य सदस्यों के साथ व्यवहार, और अन्य समाजों के सदस्यों के साथ व्यवहार दोनों इन सामाजिक मूल्यों के आधार पर तय होते हैं। ये साझा मूल्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानांतरित होते रहते हैं,

और इनकी रक्षा के लिए समाज संघर्षरत रहता है। समाज कई वर्गों से बनता है। पर वर्ग की तुलना में समाज एक ज़्यादा समृद्ध और व्यापक कल्पना है। मार्क्सवादी विचारकों ने वर्ग चेतना को समाजिक चेतना से ऊँचा दर्जा दिया। इसका कारण शायद यह रहा कि सामाजिक चेतना में परम्परा का बड़ा स्थान है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सामाजिक चेतना धार्मिक (religious) चेतना से अक्सर जुड़ी हुई है। मार्क्स के अनुसार धर्म वर्ग-चेतना को कुंठित करनेवाली अफीम है। हमेशा सामाजिक चेतना धर्म से जुड़ी रहती है, ऐसी कोई बात नहीं है। उदाहरण के लिए उत्तर भारत के जाट समाज तीन धर्मों - हिन्दू, मुस्लिम और सिख - के अनुयायियों से बना है। गुजर समाज के सदस्य हिन्दू भी होते हैं और मुस्लिम भी। इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि हिन्दू धर्म में कई जाति आधारित समाज हैं। व्यापक सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि समाज की पहचान साझा भाषा, नस्ल, क्षेत्र, इतिहास एवं संस्कृति इन सब विशेषताओं के आधार की जा पर सकती है। जो भी हो, अंत में हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि सामाजिक चेतना मौलिक रूप से समाज द्वारा अपनाये हुए उन साझा मूल्यों पर आधारित हैं, जिनके आधार पर समाज के सदस्य आपस में और शेष दुनिया से अपना व्यवहार करते हैं। जिन साझा मूल्यों पर समाज अपनी गतिविधियां निर्धारित करता है, उन्हें हम उस समाज का 'लोकधर्म' (public morality, सार्वजनिक नैतिकता) भी कह सकते हैं।

समाज-आधारित गोलबंदी वर्ग-आधारित गोलबंदी से क्यों श्रेष्ठ हैं?

समाज आधारित गोलबंदी की सफलता का भौतिकवादी विश्लेषण संभव है। मार्क्स ने बताया की मानव समाज की गतिशीलता एवं प्रगति का आधार वर्ग संघर्ष होता है। लेकिन इतिहास की घटनाएं इस बात की पुष्टि नहीं करती हैं। रूसी क्रांति मूल रूप में सर्वहारा (मज़दूर) वर्ग की क्रांति थी यह कहना कठिन है। चीन की क्रांति वहां के किसानों की क्रांति थी। मज़दूरों की उसमें कोई भूमिका नहीं थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आजाद हुए उपनिवेशों के स्वाधीनता संग्राम वहां के किसानों की अगुवाई में हुए थे। मज़दूर वर्ग ने नहीं, किसान समाज ने इन देशों के संघर्षों का नेतृत्व किया। मज़दूर वर्ग के नेतृत्व की बात के पीछे यह गलत मान्यता है कि उत्पादन के साधन (means of production) के मालिक साधन-विहीन मज़दूर वर्ग का शोषण करते हैं। पर औपनिवेशक शोषण का आधार उत्पादन के साधन की मिलकियत नहीं था। उसका आधार बाजार पर थोपी गयी

विषम विनिमय (unequal exchange) की परिपाठी में था। यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने असमान विनिमय के माध्यम से उपनिवेशों से पूँजी का निष्कर्षण कर अपने पास संचित करना शुरू किया। जब ये उपनिवेश आजाद हुए, इन उपनिवेशों के उदीयमान पूँजीपति वर्ग ने अपने ही देश के प्राथमिक उत्पादक (किसान) समाज को शोषण का शिकार बनाया। इस तरह नव आजाद देशों में विषम विनिमय पर आधारित आतंरिक उपनिवेशवाद (इंडिया बनाम भारत) शुरू हुआ। कारखानों में काम करने वाले मजदूर इंडिया के हिस्सा बने और उनकी अगुवाई में कोई क्रांति नहीं हुई। भूमि सुधार कानूनों का लाभ पाने वाले नवजात किसान समाज ने विषम विनिमय पर आधारित आतंरिक उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष शुरू किया। आज वैश्वीकरण के तहत अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बागडोर दुनिया के सबसे ताकतवर पूँजीपतियों के हाथों में आ गई है। वक्त आ गया है कि दुनिया भर के किसान समाज विषम विनिमय पर खड़ी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के खिलाफ संयुक्त रूप से संघर्ष करें।

अंग्रेजों के आने से पूर्व मौजूद भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था जिसे मार्क्स ने एशियायी उत्पादन प्रणाली (एशियाटिक मोड ऑफ़ प्रोडक्शन) बताया, उसके हज़ारों साल टिकाऊ रहने के क्या कारण रहे होंगे ? मुझे लगता है कि इसके टिकाऊ होने का सबसे बड़ा कारण गाँव के निवासियों के आपस में और पूरे गाँव का बाहरी दुनिया से विनिमय का समान (equal / fair) होना था। गाँव के लोगों के आपसी व्यवहार का आधार धर्म (public morality) आधारित आचार संहिता थी। अंग्रेजों ने उस समान विनिमय पर आधारित स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था को तोड़ा। उन्होंने ज़र्मीदारी व्यवस्था स्थापित कर और ग्रामीण उद्योगों को नष्ट कर ऐसा किया। अंग्रेजों के आने से पहले की ग्रामीण व्यवस्था का समान विनिमय आधारित होने का यह चित्रण आदर्शवादी और सच्चाई से छटकर लग सकता है। खासकर अम्बेडकरवादियों को, जिनके अनुसार हज़ारों सालों से ग्रामीण समाजिक व्यवस्था ऊँच-नीच युक्त जातिवादी व्यवस्था की शिकार होने के कारण समान विनिमय पर आधारित नहीं थी। ऐसा भी हो सकता है समान विनिमय के रहते हुए भी ग्रामीण समाज जातियों में बंटा रहा हो, पर ऊँच-नीच उतनी मजबूत नहीं रही हो, जितना अंग्रेजों के आने के बाद हो गयी थी। गाँव के आतंरिक मामलों पर निर्णय गाँव की पंचायत में सर्व सम्मति से गाँव-वासी लिया करते थे। हर जाति विशेष की अपनी जाति पंचायत हुआ

करती थी जहाँ जाति संबंधी मामलों पर निर्णय लिए जाते थे। इस तरह अंग्रेजों के आने के पहले हज़ारों साल भारत ग्रामीण गणतंत्रों का देश था, और सम्राटों एवं राजाओं के आने जाने का ग्रामीण जीवन पर कोई असर नहीं था।

राष्ट्र बनाम समाज

आज राष्ट्र (राज्यसत्ता) और समाज परस्पर विरोधी भूमिका में हमारे सामने खड़े हैं। एक तरफ है चंद पूंजीपति यार और हिंदुत्ववादी तानाशाही का गठजोड़, जो कि राष्ट्र की अवधारणा का प्रयोग वैश्विक प्रभुत्व की स्थापना के लिए कर रहा है, और दूसरी तरफ है भारत के परम्परागत समाज (social formations), जिनके अपने-अपने जीवन यापन के तरीके हैं, जीवन-मूल्य या धर्म (आचार संहिता) हैं जिनके आधार पर वे सरकार और शासनतंत्र से स्वायत्त रहकर स्वराज के मार्ग पर चलते आये हैं। अधिकतर समाज परस्पर निर्भरता और सामान्य आर्थिक हितों से जुड़े थे, और हैं, इस कारण उनका एक जीव-तंत्र (eco-system) बन जाता है, जिसमें उनके आपसी लेनदेन समान-विनिमय पर आधारित होते हैं। आज का साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग जो लगभग प्रत्येक राष्ट्र में सत्ता की बागड़ोर अपने हाथ में लिये हुए है, राष्ट्र की अवधारणा को जनता और उसकी खुशहाली की कल्पना से खाली कर, उसे विस्तारवाद और शोषण का औजार बना रहा है। कई मौकों पर पूंजीवादी शोषण के खिलाफ उठ रहे जन-आन्दोलनों में जनता को राज्य सत्ता के प्रहार से बचाने की भूमिका परम्परागत समाज ने निभाई है। दिल्ली की सीमा पर चले किसान आंदोलन में सिख समाज और खारों की भूमिका को हमें इसी नज़रिए से देखना चाहिए।

राज्य-सत्ता का सर्वव्यापी आधिपत्य खत्म करने का समय आ गया है

आज ‘राष्ट्र’ की अवधारणा एक ऐसे अत्यंत जन-विरोधी मिथक का रूप ले चुकी है, जिसके सहारे चंद पूंजीपति यारों के हितों का विशेष रख्याल रखने वाला ‘यारी’-पूंजीवाद अपनी शोषण व्यवस्था मजबूत कर रहा है, और जनता को अपने पैरों पर खड़ा होने से रोक रहा है। अपने देश में राष्ट्र की धारणा ‘यारी’-पूंजीवाद और हिंदुत्ववादी तानाशाही के गठजोड़ का प्रतिनिधित्व करती है। दुनिया के इतिहास में जितनी भी क्रांतियां हुई उनमें राज्य सत्ता का केवल हस्तांतरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग के हाथों में हुआ और जो नयी सत्ता स्थापित हुई वह भी कालांतर में पिछली सत्ता जैसी ही शोषणकारी सिद्ध हुई। अतः राज्य सत्ता के माध्यम से शोषण विहीन समाज की स्थापना एक असंभव कार्य है, ऐसा

माना जा रहा है। इसलिए हमें राष्ट्र के नाम पर जो राज्य-सत्ता कायम हुई है, उसके सर्वव्यापी अधिकार घटा कर न्यूनतम पर लाने और समाप्त करने की दिशा में काम करना होगा। समाज परिवर्तन सत्ता पर अपना अधिपत्य स्थापित कर नहीं किया जा सकता है। हमारे देश में केन्द्रीकरण के माध्यम से राजसत्ता मजबूत करने की दिशा में प्रयास हो रहा है। मार्क्स ने कहा था कि मानवता की संपूर्ण क्रियाशीलता का विकास तभी संभव है जब राज्य सत्ता प्रभावहीन हो कर खत्म होगी। महात्मा गांधी की मान्यता थी कि वह व्यवस्था सबसे अच्छी है जिसमें शासन न्यूनतम होगा, अर्थात्, तब जब जनता स्व-शासित होगी। उनके अनुसार स्वराज का मतलब है राज्य सत्ता का निर्मूलन।

मार्क्स का सपना था कि कम्युनिस्ट क्रांति के बाद राज्य-सत्ता आप ही कालबाह्य हो कर विसर्जित हो जायेगी। लेकिन इतिहास ने हमें दिखाया है कि कोई भी सत्ता न आप ही समाप्त होती है, न स्वयं को समाप्त करती है। इसलिए जन-आंदोलन का उद्देश्य सत्ता पर कब्ज़ा करना नहीं, केंद्रीकृत सत्ता, अर्थात् राष्ट्र से जुड़ी राज्य-सत्ता की ताकत समाप्त करना होना चाहिए। अंतोगत्वा राज्य सत्ता का निर्मूलन करना होगा। राष्ट्र के स्थान पर स्व-शासित स्वायत्त समाजों के एक जीव-तंत्र की स्थापना करनी होगी। तभी स्वराज का उदय होगा।



गरीबी कृत्रिम है!

- शरद जोशी

लोकविद्या जन आन्दोलन का पर्चा : मार्च २०२१

हम किसान आन्दोलन और उसकी सारी माँगों का बिना-शर्त समर्थन करते हैं!

भाइयों, बहनों और साथियों,

तीन काले कृषि कानूनों के खिलाफ और कृषि-उपज के उचित दामों के लिए किसान आन्दोलन आज साढ़े-तीन महीनों से भी अधिक समय से चल रहा है। हम आन्दोलन और उसकी सारी माँगों के प्रति हमारा बिना-शर्त खुला समर्थन घोषित करते हैं। आन्दोलन की सफलता और किसान तथा सारे साथी समाजों की खुशहाली के लिए हम प्रार्थना करते हैं। यह आन्दोलन न्याय, समानता और भाईचारा संजोने वाले खुशहाल समाज की दिशा में हमें ले जाय, यही हमारी चाहत है।

हम सब १९८० से, यानि पिछले ४० वर्षों से, बतौर सुशिक्षित व्यक्तियों के एक समूह के सारे देश के किसान आन्दोलन का सक्रिय समर्थन कर रहे हैं। इस समूह के सदस्यों ने तमिल नाडु में श्री नारायणस्वामी नायुदू और डॉ. शिवस्वामी के नेतृत्व में विवसायिगल संगम के साथ, कर्णाटक में प्रोफेसर एम. डी. नन्जुंडस्वामी और श्री एन. डी. सुन्दरेशा के नेतृत्व में कर्णाटक राज्य रैयत संघ के साथ, महाराष्ट्र में श्री शरद जोशी और श्री विजय जावंधिया के नेतृत्व में शेतकरी संघटना के साथ, श्री भूपिंदर सिंह मान, श्री बलबीर सिंह राजेवाल और श्री अजमेर सिंह लखोवाल के नेतृत्व में भारतीय किसान यूनियन (पंजाब) के साथ, श्री मांगेलाल मलिक, श्री घासीराम नैन और श्री समर सिंह समर के नेतृत्व में भारतीय किसान यूनियन (हरियाणा) के साथ और उत्तर प्रदेश में चौधरी महेंद्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में भारतीय किसान यूनियन (उ.प्र.) के साथ आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी की है। १९८५-८६ में अखिल भारतीय किसान समन्वय समिति की प्रक्रिया में हमने अपना योगदान किया है। जनवरी १९८६ में हैदराबाद में हमने फ्रैंड्स ऑफ फार्मर्स बैठक का आयोजन किया, जिसमें किसान आन्दोलन के सभी नेताओं ने हिस्सा लिया था। १९७०-८० के दशक के उत्तरार्थ से ही किसानों ने निम्नलिखित माँगे लगातार उठाई हैं:

१. सारी कृषि-उपज के लिए न्यायोचित दाम;

२. औद्योगिक उत्पादों को लागू कर्सौटियों पर ही सारी कृषि-उपज के दामों का निर्धारण;
३. औद्योगिक-उत्पादों की ही तरह कृषि उपज और कृषि-उपज पर प्रक्रिया उद्योगों को अपने उत्पाद देश में सभी जगह और कहीं भी बेचने की छूट।

इन माँगों के पीछे उसी न्यायपूर्ण, समानता पर आधारित खुशहाल समाज की दृष्टि है जो तिरुवल्लुवर, स्वामी बसवेश्वर, गुरु गोबिंद सिंह, स्वामी सहजानंद, श्री नारायणगुरु, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा जैसे हमारे संतों की हमें देन हैं।

न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) की माँग

किसी भी वस्तु के बाजार में बिक्री के दाम भौतिक वस्तुओं पर लागत, श्रम, हुनर तथा ज्ञान के कारक और यातायात इ. जैसे अन्य प्रासंगिक कारकों से तय होते हैं। पहले हमेशा ये दाम वस्तु के उत्पादनकर्ता तय करते थे। उस व्यवस्था ने उत्पादकों और उपभोक्ताओं के जीवनयापन को कभी दूरगामी नुकसान नहीं पहुंचाया। लेकिन जब डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अंग्रेजी शासन ने केन्द्रीय बाजार-व्यवस्था का प्रसार किया तब से इस स्थिति में परिवर्तन होने लगा। इस नई बाजार व्यवस्था का कुल उद्देश्य औद्योगिक उत्पादन और सेवाओं की बिक्री और प्रसार के लिए अधिकाधिक मुनाफ़ा कमाने का है। यह उद्देश्य कृषि और कृषि-उपज पर आधारित उत्पादक व्यवस्थाओं तथा सेवाओं में लगे ज्ञान, हुनर और श्रम के मूल्य को कम आँक कर, अर्थात् उनको लूट कर हासिल किया जाता है।

इस लूट ने सनातन धर्म, जो खुशहाल समाज में आपसी संबंधों का आधार है, को उजाड़ दिया, और उसकी जगह शुद्ध मुनाफ़ाखोरी से प्रेरित बाजारी संबंधों ने ले ली। समाज में घोर विषमता, नैतिक मूल्यों की टूट-फूट और भाईचारे तथा करुणा का अभाव इसी प्रक्रिया की देन है। स्वतन्त्र भारत की तमाम सरकारें वैश्विक-बाजार के विचार की समर्थक जान पड़ती हैं। इन सभी ने बाजारी पूंजीवाद की नीतियों को लागू किया। परिणामवश उत्पादक समाजों के अधिकतर लोगों को अपनी उपजीविका से हाथ धोना पड़ा है। पिछले कुछ दशकों में किसान, कारीगर और प्राथमिक सेवाकर्मियों में आत्महत्याएं भारी संख्या में बढ़ी हैं। ये सारी बातें किसान आन्दोलन के नेता लगातार कहते रहे हैं। कृषि

तथा कृषि पर आधारित उत्पादन में लगे लोगों की भीषण विपन्नावस्था आज सभी की आँखों के सामने है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात उत्पाद की बिक्री और बैंटवारे पर उत्पादकों के नियंत्रण की है। उद्योग के क्षेत्र में ये सारी बातें कमोबेश उत्पादन से सम्बंधित लोगों - पूँजीपति, व्यापारी, औद्योगिक कामगार - के अधीन होती हैं। इसमें उनको सरकार, सारे सरकारी विभाग, योजनाकार, व्यापारी, अर्थशास्त्री, बैंकर सभी का पूरा-पूरा समर्थन भी प्राप्त होता है। उलटे किसान, कारीगर, परम्परागत सेवाकर्मी उनके अपने उत्पादों और सेवाओं के मूल्य निर्धारण, बिक्री और बैंटवारे में कोई भी दखल नहीं रखते। अंग्रेजों के समय से इन लोगों के उत्पादों और सेवाओं के साथ क्या किया जायेगा इस पर कानून बनाये गए हैं, जिनके कारण मुनाफाखोर वैश्विक बाजार की व्यवस्थाओं ने स्थानीय बाजार धर्म को दबोचे रखा है।

हम सभी को यह माँग करनी चाहिए कि सभी नागरिकों के संविधान से प्राप्त मौलिक अधिकारों की रक्षा के हित में उत्पादों के मूल्य निर्धारण, बिक्री और बैंटवारे के सारे अधिकार प्राथमिक उत्पादकों के हाथों में होने चाहिए।

दिल्ली की सीमाओं पर चलते वर्तमान किसान आन्दोलन ने हिंसा को नकारा है, लगातार चलाये गए लंगरों के माध्यम से असीम करुणा का परिचय दिया है, तथा गुरु गोबिंद सिंह की सीख का बड़े धैर्य और आस्था से पालन किया है। इस आन्दोलन ने हमें हमारे देश के लोगों पर हावी 'विकास' की सोच में परिवर्तन लाने और स्थानीय समाजों की पहल की तरफ बढ़ने के लिए सार्थक सार्वजनिक संवाद खड़ा करने का सुनहरा अवसर प्रदान किया है।

हम सब हमारे किसान भाई-बहनों का अभिवादन करते हैं और न्याय के उनके संघर्ष में हमेशा उनके साथ खड़े रहने का प्रण करते हैं।

जय किसान! जय हिन्द!

कृष्णराजुल

किसान मतलब भारत, भारत मतलब किसान!

- प्रो. नन्जुंडस्वामी

फेरबुक पोस्ट

सरकार ज्यादती न करे,

पहले किसानों की मांग माने फिर चाहे तो बात करे

२ दिसंबर २०२०

सुनील सहस्रबुद्धे

केंद्र सरकार ने उत्पादन, बिक्री और भण्डारण के सम्बन्ध में कृषि क्षेत्र के लिए तीन नए कानून बनाये। किसान ने कहा कि ये कानून उनके हितों के एकदम खिलाफ हैं इसलिए वापस होने चाहिए। सरकार ने इतने व्यापक असर के कानून बनाने के पहले किसानों से बात नहीं की। तमाम चर्चाओं में यह बात सामने आई कि किसानी से जुड़े हर कार्य में इन कानूनों के चलते बड़े-बड़े व्यापारियों और पूँजीपतियों का दखल बहुत बढ़ जायेगा। किसान को कोई फायदा होना तो दूर आर्थिक दृष्टि से नुकसान होगा और वह अपनी खुद की ज़मीन पर एक मज़दूर में तब्दील हो जायेगा, पूँजी पर अछितयार रखने वालों का गुलाम हो जाएगा। अब लाखों की तादाद में किसान दिली की सीमाओं पर कई दिन से खड़े हैं। देश भर से उनके साथ हमर्दी की और उनके समर्थन की आवाज़ उठ रही है। इससे ज्यादा सबूत क्या हो सकता है कि ये कानून कत्तई किसान हित में नहीं हैं! सरकार केवल बातें घुमा रही है। जबकि सीधी बात यह है कि इन कानूनों को वापस लेने की घोषणा तुरंत होनी चाहिए और जो बात करनी है वो उसके बाद होनी चाहिए।

नीचे विचार के लिए कृषि से सम्बंधित नीति को लेकर कुछ बिन्दु दिए जा रहे हैं। ये झाँसी के डा. रामनाथन कृष्ण गाँधी ने प्रस्तावित किये हैं। डा. रामनाथन कृष्ण गाँधी १९७० के दशक से ही किसान आन्दोलन का हिस्सा रहे हैं, किसान संगठनों की राष्ट्रीय समन्वय समिति के संयोजक रहे हैं तथा वैचारिक स्तर पर किसान के पक्ष में लिखते रहे हैं।

आज सरकार द्वारा बनाये गए तीन कृषि कानूनों के खिलाफ एक बहुत बड़ा किसान आन्दोलन चल रहा है। केंद्र सरकार ने कृषि क्षेत्र में उत्पादन, बिक्री और भण्डारण के सम्बन्ध में नए कानून बनाये हैं जिनको वापस लेने की मांग को लेकर यह किसान आन्दोलन खड़ा हुआ है। इस सिलसिले में विचार के लिए नीचे एक प्रस्ताव दिया जा रहा है।

१. कृषि को संविधान में समर्वता सूची से हटा कर राज्य के विषयों में स्थानान्तरित किया जाय। कृषि के आयात-निर्यात व गरीबों को खाद्य, इमदाद (नगद) इत्यादि की नीतियां प्रांतीय सरकार के हाथ में हैं।
२. राशन की दुकानों के मार्फत अनाज बंटवाने की व्यवस्था खत्म करके ज़रूरतमंदों को नगद डायरेक्ट बेनिफिट ट्रांसफर [Direct Benefit Transfer (DBT)] दिया जाय।
३. लोक कल्याण संगठनों जैसे मंदिर, गुरुद्वारा, अनाथालय, तथा नागरिक समाज संगठनों को किसानों से सीधे अनाज खरीदने, उसका भण्डारण करने और भूखों के लिए नियमित लंगर चलाने की अनुमति दी जाय तथा उनके द्वारा अनाज व अन्य खाद्य उत्पादों में व्यापार प्रतिबंधित हो।
४. केंद्र सरकार कृषि उत्पादों की सीधी खरीद और भण्डारण बंद करे तथा ऐसे कार्यों को प्रदेशों के स्थानान्तरित करे। आवश्यक वस्तु अधिनियम को समाप्त किया जाय और इसे नौर्वी अनुसूची से हटाया जाए।
५. प्रदेश सरकारों को वित्तीय तौर पर मज़बूत किया जाय। उनका जीएसटी का अंशदान बढ़ाया जाय और वित्त आयोग के विषयों और सन्दर्भों को बदलते हुए प्रदेशों के वित्तीय संसाधनों में वृद्धि की जाए, जिससे वे खाद्य इमदाद, भण्डारण, मूल्य स्थिरता के कार्यों आदि की अतिरिक्त ज़िम्मेदारी का वहन कर सकें।
६. कृषि से सम्बंधित आदर्श कानूनों को बनाने में केन्द्र सरकार की कोई भूमिका की आवश्यकता नहीं है। प्रदेश स्तर पर प्रयोगों के मार्फत श्रेष्ठ सबसे अच्छे नियम व कार्य पद्धतियाँ विकसित की जा सकेंगी।



जब खाद्य की बात हो तब बाज़ार की बात नहीं करना चाहिए

१८ दिसंबर २०२०

सुनील सहस्रबुद्धे

किसान आन्दोलन बार-बार दुनिया की बुनियादी स्थिति को रेखांकित करते हैं। और एक रास्ता बताते हैं। यह स्थिति है मनुष्यता और पूँजी के बीच टकराव की, जीने लायक ज़िन्दगी और बाज़ार के गणित के बीच टकराव की, कर्तव्य व अधिकार के संतुलन और ठेकेदारी के बीच टकराव की। दिल्ली के इर्द-

गिर्द हो रहा किसानों का आन्दोलन बहुत पढ़े-लिखे लोगों की व्याख्याओं और उनके विश्लेषण में नहीं फँसना चाहता। हम इस किसान आन्दोलन का बिना शर्त समर्थन करते हैं। और यह कहना चाहते हैं कि जब इतनी बड़ी तादाद में लोग कुछ कह रहे हों और वह भी शान्ति पूर्ण ढंग से इतने कष्टों से जूझ कर, तो विवाद किस बात का? उनकी बात मान लेनी चाहिए और फिर जो प्रश्न बचे रह जायें उन पर वार्ता हो सकती है। ऐसी वार्ता हो यह शर्त डालना भी अनुचित है। जब खाद्य की बात हो रही हो तब बाज़ार की बात नहीं करना चाहिए।

आज का बाज़ार बड़ी पूँजी से नियंत्रित है और उसी के इशारे और दबाव में चलता है। खाद्य जब इस बाज़ार से जुड़ता है तब इसका उत्पादनकर्ता और वह सारा जनसमुदाय जिसके बजट का बड़ा हिस्सा खाद्य से जुड़ा होता है वे दोनों ही बड़ी मार के शिकार होते हैं। बाज़ार से न जोड़ें तो विकल्प क्या है?

वाया-कम्पेसिना के नाम से चलने वाले अंतर्राष्ट्रीय किसान आन्दोलन ने इस सम्बन्ध में एक विचार दिया है, जो ऐसे विकल्प के रास्ते खोलता है। यह विचार है 'खाद्य संप्रभुता' का। संप्रभुता के विचार में अधिकार और कर्तव्य दोनों का समुचित समन्वय होता है। किसानों का यह एक स्वाभाविक कर्तव्य माना जा सकता है कि वे अपने इलाके के लोगों की खाद्य की आवश्यकताएं पूरी करें, लेकिन इसके लिए जो परिस्थितियां आवश्यक हैं उन्हें बनाने में सरकार की बड़ी भूमिका है। सरकार जब ये भूमिका पूरी नहीं करती, तब खाद्य के इर्द-गिर्द का सारा मानवीय ताना-बाना टूट जाता है और बाज़ार की भूमिका प्रमुख हो जाती है। सरकार ने अभी जो तीन कानून बनाये हैं वे इसी दिशा में ले जाते हैं। मनुष्य और खाद्य के बीच का सम्बन्ध जौन हो जाता है और पूँजी व बाज़ार की भूमिका को विस्तार के नये मौके मिलते हैं। यह ज़रूरी है कि सरकार इन कानूनों को वापस ले और फिर उसके बाद वार्ता हो भी तो वह पूँजी, बाज़ार और मुनाफ़ा व तथाकथित विकास के इर्द-गिर्द न होकर, मनुष्य की ज़िन्दगी जीने लायक हो, अनाज हो लेकिन भोजन न हो ऐसी स्थिति न हो, इसकी बुनियाद पर हो।

यदि कृषि पूरे तौर पर प्रदेश सरकारों का विषय बना दिया जाए और सबको खाने पीने के लिए भरपूर मिले इसकी ज़िम्मेदारी किसानों को दी जाए तथा इसके लिए कानून बने और परिस्थितियों का निर्माण किया जाए तो नतीजे

दूरगामी हो सकते हैं। ये देश किसानों का है, ये दुनिया किसानों की है, और अगर नहीं है तो होनी चाहिए। इसी में मनुष्यता का भविष्य है।



विद्या आश्रम, सारनाथ पर वार्ता

४ जनवरी २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

दिल्ली की सरहद और उसके साथ देशभर में चल रहे किसान आंदोलन की वर्तमान स्थिति पर आज दिनांक ३ जनवरी, २०२१ को विद्या आश्रम, सारनाथ में कई किसान, मजदूर और कारीगर समाजों में काम करने वाले संगठनों ने आपस में बात की। दिल्ली की सीमाओं पर चल रहे किसान आंदोलन में भाग लेकर लौटे रामजनम, लक्ष्मण प्रसाद और फ़ज़लुर्रहमान ने वहाँ की गतिविधियों की रिपोर्ट सबके सामने रखी तथा आर-पार की लड़ाई लड़ने के किसानों के ज़ज्बे के बारे में भी बताया।

यह तथ्य उल्लेखनीय है कि पूर्वाचल के किसान सरकारी-खरीद-तंत्र से परेशान रहे हैं। एमएसपी का दो-तिहाई मिलना भी कठिन होता है। किसान १०००-१३०० रुपए प्रति किटल पर धान बेचने को मज़बूर है, जबकि एमएसपी १८६८ रुपए प्रति किटल है। किसान के कष्ट की जितनी भी चर्चा की जाए, कम ही है।

किसान आंदोलन ने देश में जो नई जागृति पैदा की है और जो उम्मीद जगाई है, उस पर सहमति रही। यह समझ भी बनी कि इस आंदोलन का संदेश समाज के सभी तबकों में जाना चाहिए और इसके लिए उपस्थित संगठनों ने मिलकर काम करने का मन बनाया।

चर्चा में शामिल वक्ताओं ने उम्मीद जताई कि कल दिल्ली में ४ जनवरी २०२१ को किसानों और सरकार की प्रस्तावित वार्ता में सकारात्मक हल निकल सकेगा और भीषण ठंड में खुले आसमान के नीचे आंदोलनरत किसानों की शहादत का क्रम समाप्त होगा। ५० से ज्यादा किसानों की शहादतें हो चुकी हैं। सद्भुद्धि के लिए इससे बड़ा आवाहन क्या हो सकता है!

वरिष्ठ समाजवादी चिन्तक श्री विजय नारायण ने बैठक का मार्गदर्शन किया और सुनील सहस्रबुद्धे ने अध्यक्षता। बैठक में लक्ष्मण प्रसाद, फ़ज़लुर्रहमान,

मनीष शर्मा, रामजनम, प्रवाल कुमार सिंह, अरुण कुमार, चित्रा सहस्रबुद्धे, प्रेमलता सिंह, विनोद कुमार चौबे, गोरखनाथ आदि उपस्थित रहे।



सुप्रीम कोर्ट अंग्रेजी में बोलता है

१७ जनवरी २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

सुप्रीम कोर्ट अंग्रेजी में बोलता है। उन्होंने एक्सपर्ट कमिटी शब्दों का इस्तेमाल किया। हिंदी में विशेषज्ञ समिति कहा जाए। उनकी विशेषज्ञ समिति फेल हो गई। समिति के सदस्यों के नाम बताने के पहले ही किसान आन्दोलन के नेताओं ने कह दिया कि वे इस समिति के सामने नहीं जायेंगे। जब नाम बताये तो वे सब वहीं निकले जो तीन कानूनों को बनाने में सलाहकर्ता थे या कानून बनने के बाद उसका स्वागत कर चुके थे। कोई और समिति भी बन सकती थी। लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि किसान नेताओं ने नाम आने के पहले ही विशेषज्ञ समिति के समक्ष जाने से इनकार कर दिया। विशेषज्ञ तो खुद किसान ही हैं। कृषि के बारे में उनसे ज्यादा कौन जानता है? क्या विशेषज्ञ उन्हें ही माना जायेगा जो बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों से पढ़े हैं या वहां पढ़ाते हैं।

इन विशेषज्ञों के ज्ञान में दो बातों का शुमार हमेशा रहता है। एक तो यह कि उनके ज्ञान का नैतिकता, यानि क्या जायज़ है और क्या नाजायज़ है, इससे कोई लेना-देना नहीं होता और दूसरा यह कि उसमें ज्ञान की स्वदेशी परम्पराओं का कोई एहसास नहीं होता और केवल यूरोप और अमेरिका के विद्वानों के सोचने-विचारने के ढंग की नकल होती है। जब आम लोगों के हितों का सवाल होता है, खासकर गाँव और किसान के हित का सवाल होता है, ये विशेषज्ञ किसी काम के नहीं होते।

ज्यादा पढ़े-लिखे लोगों में ऐसे बहुत से मिलेंगे जो कृषि के बारे में तो चिंतित होते हैं, खाद्य आपूर्ति, पर्यावरण और देश हित के बारे में तो सोचते हैं, लेकिन किसान के बारे में नहीं सोचते। वे किसान और गाँव की दुनिया से अपरिचित भी होते हैं। ज्ञान की बातें तो महत्व रखती ही हैं लेकिन अगर आप किसान का दर्द नहीं महसूस करते तो ज्ञान कितना भी हो और कैसा भी हो, किसान की दुनिया बड़ी दुनिया में एक न्याय संगत स्थान पाये इसके लिए वह कारगर नहीं होगा।

आन्दोलन में शरीक होने और उसका समर्थन करने का आधार दर्द बाँटने में है।



हमारे मालिक हम खुद रहेंगे

२८ फरवरी २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

किसान आन्दोलन जिन तीन नए बने कानूनों को वापस लेने की बात कर रहा है वे कृषि के उत्पादन, उत्पाद की खरीद-फरोखत और उत्पाद के भंडारण से सम्बंधित हैं। किसान कह रहा है कि हमें अपनी किसानी चलाने दीजिये। इतने दखल के इंतज़ाम न कीजिये कि हम कहीं के न रहें। और फिर उनके नेताओं की बातें सुनिए तो वे कहते दिखाई देंगे कि हमें अपनी ज़िन्दगी बनाने और चलाने का मौलिक अधिकार है। हम अपनी ज़िन्दगी के स्वामी हैं और ऐसे किसी भी कानून को हम नहीं मान सकते जो हमारी किसानी और उसके बल पर हमारी ज़िन्दगी चलाने की व्यवस्था किसी और के हाथों में दे दे। इतना बड़ा आन्दोलन किसी ने आज तक नहीं देखा था। आन्दोलन यह कहता मालूम पड़ता है कि आखिरकार मालिक कौन है? ये कैसी व्यवस्था है? जिसमें हम अपनी ही ज़िन्दगी के स्वामी ना हों?

संसदीय लोकतंत्र ने सबका मालिक सरकार को बना दिया। किसान महासभायें ये कह रही हैं कि हमारे मालिक हम खुद रहेंगे। आप कुछ ज्यादा ही दखल दे रहे हैं। हमें आपकी सत्ता का दखल नहीं चाहिए। आपका सहयोग चाहिये क्योंकि सरकारी खजाने के मालिक आप हैं। और इसीलिये न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) को हम चाहते हैं कि कानूनी जामा पहनाया जाए।

गांधीजी के रूप में देश के गंवां और किसानों को एक नेता मिला था। उसने कहा था कि संसदीय लोकतंत्र लोगों के मन के अनुकूल काम नहीं करेगा, पैसे के व्यवहार से संचालित होगा, इसलिए स्वराज ज़रूरी है तभी सब लोग अपनी ज़िन्दगी के मालिक हो सकेंगे। इस राष्ट्र की जीवनकला और शासनकला दोनों की ही परंपरा स्वराज की परम्परा है। भारत की दार्शनिक परंपरा का सामाजिक राजनीतिक सहगामी स्वराज ही है। लम्बी गुलामी ने हमें हमारे दर्शन और स्वराज दोनों से दूर कर दिया है। इनमें से कोई एक अकेला वापस नहीं

आएगा। जब आयेंगे तो दोनों एक साथ आयेंगे, परस्पर निर्भर अग्रगामी गति के साथ समकालीन दुनिया में अपने को पुनर्जीवित, पुर्निमित और प्रासंगिक बनायेंगे। किसान के आलावा कोई और यह काम कर सकता है ऐसा दिखाई नहीं देता। हम सबका धर्म यहीं बनता है कि हम किसान आन्दोलन का सहयोग करें और भारत देश की स्वराज की और दर्शन की परंपरा को पुनर्जागृत और प्रासंगिक बनाने की उसकी गति में अपनी-अपनी क्षमता और समझ के साथ शामिल हों।



किसान अन्नदाता तो है ही, साथ ही समाज का मुक्तिदाता भी है और नये समाज का रचयिता भी

०३ मार्च २०२१

गिरीश सहस्रबुद्धे

किसान आन्दोलन कितने दिनों से चल रहा है इसपर अखबारों में हर रोज़ कुछ देखने मिलता है। अब सौ दिन हो चले हैं, और बात दिनों की न रह कर, महीनों की हो चली है। और इसके साथ ही किसानों के बढ़ते आत्मबल की। देश के लोग आन्दोलन की शांतिप्रियता और आन्दोलकों के संयम के कायल हो चुके हैं। साथ ही आन्दोलन बदनामी के घेरे में पड़े इस छठ के साथ अंजाम दी गई कई घटनाओं से निराश भी। क्या सत्ता अपनी संभ्रमित अवस्था में यह मानने लगी है कि लोगों से कुछ भी मनवाया जा सकता है? या फिर क्या आम राय से सत्ता का सरोकार निम्न स्तर की नई गहराइयों की खोज में है?

फिर भी यह तो साफ़ है कि इन घटनाओं ने आन्दोलन को नये सिरे से अपने रास्ते बढ़ते रहने के लिए प्रोत्साहित ही किया है। कील-रोड़ों के ज़रिये रोड़-कट, बिजली-कट, इंटरनेट-कट के माहौल में इनसे जूझते हुए आन्दोलन के उद्देश्यों को लेकर दर्शकों के खुले सवालों के जवाब देते हुए 'झूम' ते किसानों के मुख से इन कट-बहादुरों के बारे में एक भी अपशब्द नहीं निकला। महापंचायतें कई अर्थों में 'आम' हो रही हैं - स्थान, निरंतरता, सहभाग, चर्चा के विषय, उभरती सामाजिक चेतना, आगे बढ़ने के रास्ते ... सभी के बारे में। ऐसा तब देखने को मिलता है जब आम लोगों को कहीं ऐसा कोई, टिमटिमाहट बुझा जाने का डर पैदा न करे, बल्कि उलटे गर्माहट महसूस कराए। पिछली बार ऐसा हुआ था उस बात को अब चार

दशक हो चुके। लेकिन एक दौर और बाकी था। अभी वैश्वीकरण ने अपने जलवे दिखाने बाकी थे। अच्छा है कि देश-दुनिया अब यह भी देख चुके।

किसानों का कहना है कि नए कृषि कानून 'रोटी को तिजोरी में बंद कर' 'भूख का व्यापार करना चाहते हैं'। चंद शब्दों में इन कानूनों का अर्क उतार छोड़ने वाले किसानों का ज्ञान क्या किसी अर्थशास्त्री से कम माना जाए? यह तो नहीं हो सकता। क्या कार्पोरेटों के ठेकों के माध्यम से अन्न मात्र बिकाऊ माल बनकर नहीं रह जाएगा? तमाम अर्थशास्त्री कानूनों के समर्थन के आधार ढूँढ रहे हैं। लेकिन ये सारे आधार कहीं और देखकर वहां से उठाये जा रहे हैं; देश की धरती से नज़र हटाकर। उनका आग्रह है कि यहाँ से नज़र हटाना ज़रूरी है, अन्यथा उनका तर्क समझना संभव नहीं है। सरकार भी यही कह रही है। देश को तथाकथित समृद्ध देशों जैसा बनाना चाहती है। शायद इसीलिए दूसरी हरित क्रान्ति की बात हो रही है। किसान इसका मतलब खूब समझ रहे हैं। उनका कहना है कि किसानी के हर क्षेत्र में वित्तीय बल पर कार्पोरेटों का दखल कायम होगा और उनके हाथ में उन्हीं की जमीन पर खेती के बारे में कोई भी निर्णय करने की ताकत न रहेगी। साथ ही वे यह भी समझ रहे हैं कि इन कानूनों के ज़रिये सरकार फसलों की कीमतों के बारे में अपनी जिम्मेदारी से भी हट रही है। वे यह निश्चित करना चाहते हैं कि सरकार इस मामले में कानूनन बंधे। एमएसपी की गारंटी दे। सरकार यह नहीं होने देना चाहती। वह अपनी वित्तीय मुश्किलों की दुहाई देती है। वह यह भी जानती है कि इसपर बात लम्बी होगी तो वे सारी वित्तीय व्यवस्थाएं चर्चा में आयेंगी जिनकी बदौलत मॉर्डन व्यवस्थाओं को किसानों-कारीगरों-आदिवासियों की लूट पर खड़ा किया जाता रहा है। चर्चा में इससे निबटने के लिए बाहरी राजनीतिक और वित्तीय ताकतों पर उंगली उठाकर भी तो अपनी नीतिगत जिम्मेदारियों से नहीं बचा जा सकता। इस सबसे भावी समाज की सरकारी तसवीर धूमिल होती है। अंततोगत्वा इसी तसवीर को अंजाम देने के लिए ही तो सारी कसरत की जा रही है।

लेकिन किसान इस तसवीर से वाकिफ हैं। वे खूब समझ रहे हैं कि लड़ाई तो एक समाज के रूप में किसानों को खत्म करने की कसरतों के खिलाफ है। आखिर सारे सिद्धांतकार यहीं तो मानकर चलते रहे हैं कि किसान-समाज को आज नहीं तो कल इतिहास के पत्तों भर में ही रह जाना है। ज़ाहिर है, देश के वजूद को ही वे जड़ से नकारते रहे हैं। उनसे क्या उम्मीद की जाय?

इसीलिए किसानों ने अपने आन्दोलन से सारे विशेषज्ञों को दर-किनार कर दिया है। उनका कहना है: ‘‘हमारी सोच महापंचायतों में हमारी आपसी बातचीत से पनपती है। यहाँ हम अपने निर्णय भी लेते हैं। क्या पार्लमेंट ऐसा कर पाती है? क्या यह सच नहीं कि उसके निर्णय भावी समाज की झूठी तस्वीरों की खातिरदारी करते हैं? हम कोई कानूनी बात नहीं कर रहे, जिसका निर्णय कोटीं में हो। चूँकि आप हमारी सरकार कहलाते हैं, आप भी हमारे साथ बैठें। हमारी सोच समझें। सही नीति की बात करें। हमें जीडीपी और ईज़ ऑफ़ डूँग बिज़नेस न समझाएं। हम जीने का अर्थ समझते हैं, भाईचारा समझते हैं, हक् और जिम्मेदारी भी। इस बुनियाद पर बात होगी तो हल निश्चित निकलेगा।’’

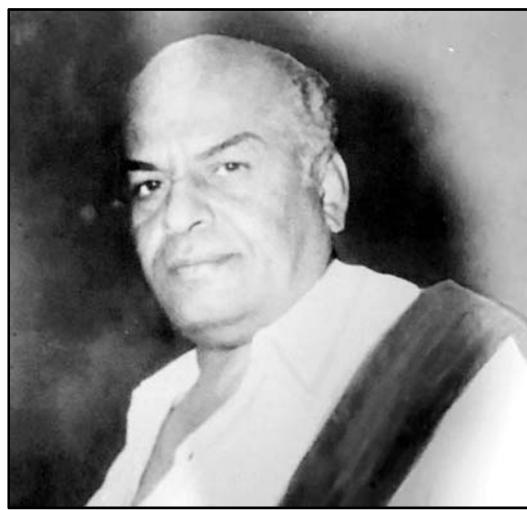
अंग्रेजों के हस्तक्षेप ने हमारे समाज में आतंरिक पहल को नष्टाय कर दिया। स्वतंत्रता के बाद अंग्रेजों की भूमिका देश के काले अंग्रेजों ने अदा की, इस तथ्य को चार दशक पूर्व बड़े किसान आन्दोलन ने ही उजागर किया। इस कड़ी के अगले चरण वैश्वीकरण के बदलते सन्दर्भों में पुनः किसानों का आन्दोलन ही लोगों को मुक्ति का रास्ता दिखा रहा है, इसे महज संयोग की बात तो नहीं माना जा सकता। वर्तमान समाज में किसानों की कौम अकेली ऐसी कौम है, जिसका वजूद राज्य व्यवस्था की ताकत का मोहताज नहीं है। इस व्यवस्था के पुजारी कुछ भी कहें, किसान ऐसे समाज का अगुआ और सबसे बड़ा हिस्सा है जो अपने ज्ञान और श्रम के बल पर टिका है। और इस बारे में सचेत भी। आन्दोलन इन सारी बातों का साक्षी है। किसान अन्धदाता तो है ही, लेकिन इससे आगे इस समाज का मुक्तिदाता भी है और नए समाज का रचयिता भी।



‘अदालत’ पर सुन लीजिये

१९८७ में उत्तर प्रदेश में किसान आन्दोलन शुरू होने के साथ चौ महेंद्र सिंह टिकैत के नेतृत्व और नाम की इतनी बड़ी गूँज पैदा हुई कि जगह जगह से उन्हें बुलावा आने लगा। आगरे के वकीलों ने भी बुलाया। यह कहने के लिए कि उच्च न्यायालय इलाहाबाद की एक शाखा आगरे में भी होनी चाहिए। तब टिकैत साहब ने जवाब दिया था कि तुम हमें उच्च न्यायालय की एक और शाखा खुलवाने को कहते हो, मैं तो कहता हूँ कि इलाहाबाद का ही बंद करवा दो।

नए किसान आन्दोलन के पहले अवतरण के कुछ चित्र



१. तमिलनाडु के किसान नेता नारायणस्वामी नायडू (१९७० का दशक)



२. कर्णाटक के किसान नेता नन्जुंड स्वामी (१९८० का दशक)



३. महाराष्ट्र के किसान नेता शरद जोशी (१९८० का दशक)



४. उत्तर प्रदेश के किसान नेता चौधरी महेंद्र सिंह टिकैत (१९८०-९० का दशक)



५. अमरावती में किसान आन्दोलन की अन्तर्राज्यीय समन्वय समिति २०११



६. अमरावती की किसान महासभा किसान नेता विजय जावंधिया २०११



७. अंतराज्यीय समन्वय समित की बैठक, अमरावती, २०११, बोलते हुए लोकविद्या जन आन्दोलन के सुनील सहस्रबुद्धे. दाहिने से भारतीय किसान यूनियन (भाकियू), उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष दीवानचंद चौधरी, भाकियू राष्ट्रीय महासचिव राजपाल शर्मा, भाकियू राष्ट्रीय प्रवक्ता राकेश टिकैत, शेतकरी संघटना के विजय जावधिया, प्रहार संगठन से बचू कड़,



८. लोकविद्या जन आन्दोलन का पहला अधिवेशन, विद्या आश्रम, सारनाथ, वाराणसी में शामिल किसान नेता, नवम्बर २०११ बाये से पंजाब के किसान नेता अजमेर सिंह लखोवाल, भाकियू वाराणसी मंडल अध्यक्ष जगदीश सिंह यादव, भाकियू गाजीपुर अध्यक्ष बाबूलाल मानव और बोलते हुए भाकियू राष्ट्रीय प्रवक्ता राकेश टिकैत.

भाग - २

बाजार, बेरोजगारी

और आय

किसान विरोधी नीति और समर्थन मूल्य का इतिहास, कानूनन गारण्टी कि माँग का महत्व, वैश्विक बाजार में विषम-विनिमय, बेरोजगारी की जड़, लोकविद्या समाज की आय, स्थानीय बाजार का महत्व और लोकविद्या बाजार की परिकल्पना

समर्थन मूल्य, किसान-विरोधी नीति और किसान आन्दोलन

विजय जावंधिया

गुलामों को गुलाम बनाए रखने के लिए अंग्रेजों का दिया हुआ दिमाग और नीति ही स्वतन्त्र भारत पर आज भी हावी है। किसान, मजदूर की आमदनी दुगुनी कैसे होगी? इसके लिए क्या खेतिहार और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की मजदूरी दुगुनी नहीं होनी होगी? क्या एमएसपी उसे लेकर रुपी २+५०% के बराबरी की नहीं होनी होगी? इस दिशा में कृषि-नीति में परिवर्तन होगा तभी इंसान की जिन्दगी देनेवाली अर्थनीति और राजनीति सफल हो सकेगी।

कृषि-मूल्य आयोग की स्थापना

भारत में कृषि मूल्य आयोग कि स्थापना 'जय जवान जय किसान' का नारा देने वाले भारत के भूतपूर्व प्रधान मंत्री स्व. लाल बहादुर शास्त्री जी के कार्यकाल में जनवरी १९६५ में हुई थी। इसमें उस समय के अन्न और कृषि मंत्री स्व. श्री सी. सुब्रमण्यम जी का भी महत्वपूर्ण योगदान था। हमारा देश १९६०-७० के दौरान भयंकर अन्न-संकट से गुजर रहा था। अमेरिका के पी एल ४८० के अंतर्गत भारत को मिलने वाले लाल गेहूँ और 'मिलो' (बाजरा) पर हम निर्भर थे। डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन जी ने स्थिति कि भयानकता को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "हमारी स्थिति ship to mouth" थी। अमेरिका से जहाज नहीं आता, तो रोटी का सवाल खड़ा होता। इसीलिए शास्त्री जी ने जनता को उस समय हर सोमवार उपवास रखने की अपील की थी।

उस समय देश की जरूरत के हिसाब से उत्पादन कम था। बाजार में दाम ज्यादा रहते थे। लोगों कि क्रय-शक्ति भी कम ही थी। इस पृष्ठभूमि पर उत्पादन बढ़ाने की योजनाओं पर विचार हुआ। इनमें उन्नत बीज, रासायनिक खाद के अलावा सर्कारी का भी समावेश किया गया। पारंपरिक खेती की अपेक्षतया इस नई तकनीकी की खेती में किसान का खर्च तो बढ़ना ही था। किसान खर्च बढ़ा कर उत्पादन बढ़ाएगा और बढ़ा हुआ उत्पादन बाजार में आयेगा तो दाम गिरने का डर तो था ही। इस प्रकार की अनिश्चितता में किसान की उत्पादन बढ़ाने की

कोशिश टिक नहीं सकती थी। उसका उत्साह बना रहना चाहिए, इसलिए कृषि-मूल्य आयोग की स्थापना की गई। फसलों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) की घोषणा की गई। किसानों से कहा गया कि आप उत्पादन बढ़ाते रहिये; अगर घोषित एमएसपी से बाजार में दाम कम होते हैं, तो सरकार आपकी उपज एमएसपी पर खरीदेगी।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि उस समय उत्पादन बढ़ रहा था, तब भी दाम ज्यादा हुआ करते थे। गरीबों को सस्ता अनाज देने की सरकारी योजना के लिए अनाज की आवश्यकता बनी रहती थी। जब बाजारों में दाम एमएसपी से अधिक होते थे, सरकार किसानों पर लेव्ही भी लादती थी, यानि ऐसे मौकों पर किसान को अनिवार्य रूप से सरकार को ही अपनी उपज बेचनी पड़ती थी। इस लेव्ही को प्रोक्यूअरमेंट (procurement) कहा जाता था, जिसके लिए सरकार प्रोक्यूअरमेंट कीमतें घोषित करती थी। ये कीमतें एमएसपी से अधिक, लेकिन बाजार की कीमतों से कम हुआ करती थीं।

समर्थन मूल्य का अर्थ

१९६६ में भारत सरकार ने श्री सी. वेंकटप्पैय्या की अध्यक्षता में अन्ननीति निर्धारण समिति की स्थापना की। डॉ. धनंजयराव गाडगिल और प्रो. दांतवाला समिति के सदस्य थे। इस समिति ने अपनी १९६७ की रपट में यह बात कही है: “एकाधिकार खरीद (मोनोपली प्रोक्यूअरमेंट) की कीमत हमेशा ही न्यूनतम समर्थन मूल्य से अधिक होनी चाहिए, क्योंकि सरकार किसानों को उनकी उपज का एक हिस्सा उसे ही बेचने के लिए बाध्य करती है। इसके अलावा किसान जितना उत्पादन बाजार में लाएगा उसे सरकार को अगर जरूरत हो तो कम से कम समर्थन मूल्य पर तो खरीदना है ही।” इस समिति ने यह भी कहा कि न्यूनतम समर्थन मूल्य तभी अर्थपूर्ण है जब बाजार के दाम इस मूल्य तक गिर सकें। अगर समर्थन मूल्य इतने कम घोषित होते हैं कि उस स्तर तक बाजार में दाम गिरने की कोई गुंजाईश ही न हो, तो उनकी घोषणा बेमानी हो जायेगी। (“It is obvious that the guaranteed minimum support price will lose all significance if fixed too low, eg., at levels not likely to be reached at all in actual practice.”)

इसका मतलब साफ़ है: न्यूनतम समर्थन मूल्य इतना होना चाहिए जिससे कि किसान की पूरी लागत उसे मिले और जिसे वह लाभप्रद मूल्य भी

माने। कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने के लिए किसानों को उत्साहित करना होगा। इस उद्देश्य से उसकी उपज को लाभप्रद दाम का आश्वासन देने की नीति पर अंग्रेजी राज में भी अनेक समितियों द्वारा सिफारिश की गयी। हिन्दुस्तान सरकार द्वारा १९४४ में नियुक्त कृषि क्षेत्र से सम्बंधित समिति ने कहा है, “कृषि ही शायद ऐसा एकमेव व्यवसाय है जो सालों घाटे में चलने पर भी उत्पादक (किसान) उसे बंद नहीं कर सकता”। इस समिति ने भी इस पर जोर दिया कि कृषि उपज के दाम निश्चित मर्यादा से नीचे गिरने नहीं चाहिए।

डॉ. कुमारप्पा: उद्योगों से बराबरी की आमदनी

अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होने के बाद कांग्रेस की सरकार ने सत्ता सम्हाली। कांग्रेस पार्टी ने प्रसिद्ध गांधीवादी अर्थशास्त्री डॉ. जे. सी. कुमारप्पा कि अध्यक्षता में कांग्रेस कृषि-सुधार समिति कि स्थापना की। कुमारप्पा समिति ने १९४९ में अपनी रपट कांग्रेस अध्यक्ष को सौंपी। रपट में स्पष्ट रूप में यह कहा गया: “देश के कृषि उत्पादनों में बढ़ोत्तरी कृषि-सुधारों का एक लक्ष्य तो होना ही चाहिए। जरूरत से कुछ ज्यादा उत्पादन मजबूत अर्थव्यवस्था के लिए जरूरी भी है। लेकिन जरूरतों की माँग से ज्यादा पूर्ति होगी तो बाजार में दाम भी गिरेंगे। ऐसी स्थिति में किसान उत्पादन बढ़ाते रहें इसके लिए दाम एक निश्चित स्तर के नीचे न जाएँ इस बात की गारण्टी देना सरकार की जिम्मेदारी है। कृषि उपज के दाम और कृषि की आमदनी की गारण्टी देने से भी बात नहीं बनेगी। कृषि क्षेत्र की आमदनी और औद्योगिक क्षेत्र की आमदनी में समन्वय भी स्थापित करना होगा” (कांग्रेस कृषि-सुधार समिति रपट, १९४९, पृ. १५०)

इस दौरान खेती के अध्ययन के लिए सरकार की तरफ से दूसरे देशों में प्रतिनिधि मंडल भेजे गए। लौटने पर सभी ने कमोबेश यही कहा कि प्रमुख कृषि-उपज के न्यूनतम मूल्यों कि गारण्टी देने की और इन मूल्यों पर सारा का सारा कृषि उत्पाद खरीदने के प्रति सरकार की प्रतिबद्धता का विश्वास किसान को दिलाने से ही खेती खुशहाल हो सकेगी। उनकी पहली दो पंचवार्षिक योजनाओं के युगोस्लाविया के अनुभव ने तो डॉ. कुमारप्पा द्वारा कृषि और उद्योग क्षेत्रों की आमदनी में समन्वय स्थापित करने की बात की जबरदस्त पुष्टि की। चीन गए प्रतिनिधि मंडल की रपट में साथ ही यह भी कहा गया है कि “ये न्यूनतम मूल्य ऐसे होने चाहिये कि किसान अधिकाधिक श्रम, अधिकाधिक खाद और कीटनाशक, उन्नत बीज, नए औजार इस्तेमाल करने के लिए प्रोत्साहित

हों और उनका उत्साह बना रहे’। (चीन भेजे गए कृष्णपा प्रतिनिधि मंडल की रपट, पृ. १९५-१७, भारत सरकार प्रकाशन, १९५६) बाद में इसमें से नए खाद, कीटनाशक, औजार इ. की बात एकत्रफा उठाकर नीतियाँ बनीं, और उत्साह दिलाने वाली बात बहुत पीछे छूट गयी।

पूर्णतया किसान-विरोधी नीति की शुरुआत और किसानों में असंतोष

स्व. लालबहादुर शास्त्री जी ने कृषि-मूल्य आयोग की स्थापना कर इस दिशा में कदम बढ़ाया था। परन्तु, दुर्भाग्यवश उनका कार्यकाल बहुत ही छोटा रहा। बाद में श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं। उन्होंने हरित-क्रान्ति को बढ़ावा दिया। जहाँ-जहाँ सींचाई के साधन थे वहाँ हरित-क्रान्ति का कृषि-तंत्र- उच्चत बीज, रसायनिक खाद, कीटनाशक, नए औजार - का प्रयोग बढ़ा। किसान बाजार पर ज्यादा निर्भर होने लगा। उत्पादन तो बढ़ रहा था, लेकिन लागत भी बढ़ रही थी। उस हिसाब से उपज के दाम नहीं बढ़ रहे थे। किसानों का असंतोष थोड़ा बहुत व्यक्त होने लगा था।

कृषि-मूल्य आयोग की स्थापना के बाद १९६४-६५ में गेहूं के समर्थन मूल्य में वृद्धि कर वह ४९.५० रु. प्रति कुंतल तय किया गया। बाजार में इससे ज्यादा दाम थे। सरकारी खरीद भी ५५ रु. प्रति कुंतल पर की गई। अलग अलग राज्यों में बाजार के दाम अलग थे। १९७०-७२ तक समर्थन मूल्य ७० रु. प्रति कुंतल रहा। दुनिया के बाजार में पेट्रोलियम (क्रूड ऑइल) के दामों की समस्या १९७३ में इंदिरा गांधी के कार्यकाल में पहली बार खड़ी हुई। भारत सरकार ने रातों-रात पचास किलो की रसायनिक खाद की बैग की कीमत ५० रु. से बढ़ाकर सीधे १०० रु. कर दी। कीटनाशक के दाम १६ रु. प्रति लिटर से बढ़ाकर ६०-८० रु. प्रति लिटर हो गए। परन्तु, अनाज के न्यूनतम मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गयी। १९७३-७४ में गेहूं का समर्थन मूल्य ७४ रु. प्रति कुंतल का ही था। लागत तो बढ़ रही थी, पर समर्थन मूल्य नहीं! पंजाब हरियाणा में तो इस दौरान डीजल मिलना भी मुश्किल था। उस इलाके के लोक-गीतों में तक इसका वर्णन बहुत रोचक ढंग से सुनने को मिलता था, जिसका अर्थ कुछ ऐसा था: ‘हम डीजल लेने पेट्रोल पम्प पर जाते हैं तो हमसे कहते हैं, “मोबिल ऑइल भी लेना होगा!”; हमें भी शहर वालों से कहना चाहिए, “दूध चाहिए आपको? गोबर भी खरीदना होगा!”।

खेती में लगने वाली सभी चीजों के दामों में वृद्धि होने लगी थी। परन्तु, 'जीवनावश्यक वस्तु' के नाम पर खेती-उपज के दामों में बढ़ोत्तरी होने नहीं दी जा रही थी। दामों पर नियंत्रण रखने के लिए सरकार ज़ोन-बंदी और जिला-बंदी का भी उपयोग करती थी। इससे अधिक उत्पादन वाल क्षेत्रों में, यानि जहाँ जहाँ हरित-क्रान्ति के कृषि-तन्त्र का इस्तेमाल बढ़ा था उन क्षेत्रों में असंतोष बढ़ने लगा था। पंजाब में खेती-बाड़ी यूनियन के नाम से किसान संगठित होने लगे थे। तमिल नाडु में विवसायिगल संगम नाम से संगठन बना। गुजरात में खेड़ुत-समाज था, और कर्णाटक में रयत संघ के साथ किसान जुड़ने लगे। महाराष्ट्र में कपास-उत्पादक संघ का १९७०-७२ में गठन हुआ, और कपास एकाधिकार खरीद योजना (Monopoly Cotton Procurement Scheme) का प्रारम्भ हुआ। १९७० से १९८० का काल किसानों के लगातार बढ़ते असंतोष का दशक है।

महाराष्ट्र में शेतकरी संघटना का कार्य १९८० के अंत में शुरू हुआ। उसी समय पंजाब, हरियाणा, तमिल नाडु और कर्णाटक के किसान संगठनों ने हैदराबाद में इकट्ठे आकर भारतीय किसान यूनियन की स्थापना विवसायिगल संगम के नेता श्री नारायणस्वामी नायुदू के नेतृत्व में की। किसान आन्दोलन को १९७० से १९८०, १९८० से १९९०, और १९९० से आज तक के तीन काल-खण्डों में बांटा जा सकता है।

फैलते आन्दोलन के साथ नीतियों का सैद्धांतिक विरोध

१९७०-८० का दशक राजनीतिक अर्थ में भी काफी सक्रिय, सख्त और साथ ही अनिश्चितता का भी रहा। किसानों के साथ विद्यार्थियों के भी आन्दोलन हो रहे थे। जून १९७३ में देश में आपात काल कि घोषणा कर दी गयी, और विरोधी दलों के तमाम प्रमुख नेता जेल भेज दिए गए। १९७७ में कांग्रेस की चुनावी हार के बाद सत्ता बदल गयी। श्री मुरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने। कृषि-उपज के दामों में मंदी लाई गई। किसानों में असंतोष भड़कने लगा। जनता पार्टी में मतभेद भी बढ़ने लगे, जिसका राजनीतिक लाभ कांग्रेस ने उठाया। चौथरी चरण सिंह जी इंदिरा गांधी के समर्थन से प्रधानमंत्री बने, लेकिन सरकार ज्यादा दिन टिकी नहीं, और जनवरी १९८० में इंदिरा गांधी फिर से प्रधानमंत्री बनीं। १९८० के बाद किसानों का असंतोष व्यापक रूप से संगठित होता गया। सारे देश में सरकार की किसान-विरोधी नीतियों का विरोध प्रखर सैद्धांतिक रूप में भी मुखर होने लगा।

गोरे अँग्रेज कि जगह काले अँग्रेज ने ले ली है, यह कह कर उपनिवेशवादी शोषण की बात पर बल दिया गया। इंदिरा गांधी की 'गरीबी हटाओ' की घोषणा को किसान आन्दोलन ने यह कह कर जबरदस्त संगठित जवाब दिया कि 'हमें भीख नहीं, हमारे पसीने के दाम चाहिए!'। देश में कृषि-उपज के दाम जान-बूझ कर नीचे रखने की नीति का विरोध प्रखर होने लगा। आन्दोलन ने गाँव और शहर के बीच के बढ़ते फासले को अधोरेखित किया। इस दौरान अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर गरीबी की चर्चा पर काफी ध्यान केन्द्रित किया जा रहा था। माइकेल लिप्टन की किताब 'गरीब लोग गरीब क्यों बने रहते हैं?' इसी समय प्रकाशित हुई थी। इस किताब का निचोड़ यह है: "विकास की नीति का झुकाव शहरों की तरफ (urban bias) है। कृषि-उपज के दाम जान-बूझ कर कम रखे जाते हैं। दूसरे महायुद्ध के बाद जिन देशों ने राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल की, और जिन्होंने अनाज के दाम जान-बूझ कर कम रखे, वे सभी आज गरीब से गरीब देश हैं।"

भारत के किसान आन्दोलन की प्रमुख माँग कृषि-उपज के लिए लाभकारी मूल्य की ही माँग थी। लागत मूल्य पर आधारित दाम होना चाहिए इस माँग से खेतिहार मजदूर भी जु़़ा। इस माँग ने भारत के साम्यवादी विचारकों को भी मजबूर किया कि वे गाँव के लोगों के अंतर्गत विभाजन को समझने के अपने नजरिये पर फिर से विचार करें। किसान आन्दोलन ने कृषि-मूल्य आयोग की कार्य-प्रणाली पर सवाल खड़े किये। भारत सरकार ने आयोग का नाम 'कृषि लागत और मूल्य आयोग' से बदल कर 'कृषि-मूल्य और लागत आयोग' कर दिया, ताकि ऐसा प्रतीत हो कि लागत पर आधारित दाम तय किये जाते हैं। वास्तविकता यह है कि आयोग की कार्य-प्रणाली में कोई ठोस परिवर्तन किया ही नहीं गया था, और वह पहले ही की तरह काम करता रहा।

उपज को सही दाम नहीं मिलने के कारण किसान कर्जे के बोझ तले दबा जाता था, इस स्थिति को लेकर किसानों में 'कर्जा-माफी' की माँग भी जोर पकड़ने लगी। इन माँगों के साथ ही आन्दोलन ने सरकार की आयात-निर्यात नीति पर भी सवाल खड़े किये। इसी समय राजनीतिक क्षेत्र में भी कुछ उथल-पुथल का माहौल बन रहा था। राजीव गांधी पर बोफोर्स तोपों की खरीद में भ्रष्टाचार का आरोप लगा कर श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह कांग्रेस से अलग हुए और दिसम्बर १९८९ में देश के प्रधानमंत्री बने। किसान आन्दोलन की माँग स्वीकार करते हुए उन्होंने दस हजार रु. के कर्जे माफ करने की घोषणा की।

चावल की आयात पर भी रोक लगाई गई। परन्तु यह सरकार भी ज्यादा दिन नहीं चली। सरकार तक पहुंचती किसानों की आवाज राजनीतिक अस्थिरता में दब कर रह गई, और कोई दूरगमी परिवर्तन नहीं हो सके।

बदलता वैष्णिक माहौल और उसमें हुए उलटफेर

इसी दौरान दुनिया में आर्थिकी और तांत्रिकी में दूरगमी बदलाव की छवाएं चल रही थीं। लेकिन, भारत में राजनैतिक अस्थिरता, मंदिर-मस्जिद, मंडल-कमंडल की चर्चा में आर्थिक मुद्दों की चर्चा दफ्फन हो गई। जून १९९१ में

डॉ. स्वामीनाथन की स्पष्ट स्वीकृति

१९९१ के बाद की आर्थिक नीतियों के बाद से शहर और गाँव के बीच की खाई बढ़ती ही जाती थी। १९९७ से किसानों की आत्महत्याओं में लगातार वृद्धि ही हुई; केंद्र में सरकार चाहे किसी भी दल की ही क्यों न हो! २००८-०९ के लिए खरीफ फसलों की एमएसपी में २८-५०% की वृद्धि और ७० हजार करोड़ की कर्जा-माफी - कांग्रेस द्वारा २००९ के चुनावों को देखते हुए उठाये गए इन कदमों को छोड़ दें, तो २००८ से २०१४ के मनमोहन सिंह जी के कार्यकाल में भी यही बात रही। इसी कारण शायद श्री मनमोहन सिंह ने हरित क्रान्ति के प्रणेता डॉ. स्वामीनाथन की अध्यक्षता में राष्ट्रीय किसान आयोग की स्थापना की। डॉ. स्वामीनाथन उसके बाद एक बार मेरे गाँव वायफड, वर्धा आये और उनसे परिचय बढ़ा। जब उन्होंने अपनी रपट में न्यूनतम मूल्य के लिए उत्पाद पर की पूरी लागत सीर के डेढ़-गुने की सिफारिश की, तो मैंने उनसे पूछा कि आप तो हरित-क्रान्ति के समय किसानों से उत्पादन बढ़ाने की बात कहते थे, और अब आप दाम बढ़ाने की बात कह रहे हैं; क्या इसमें अंतर्विरोध नहीं है? उनका जवाब था: “मैं अब राष्ट्रीय कृषि आयोग का नहीं राष्ट्रीय किसान आयोग का अध्यक्ष हूँ, और मुझे कृषि की नहीं बल्कि किसान की सोचनी है। अगर उसकी आमदनी नहीं बढ़ती उत्पादन बढ़ाने का लाभ ही क्या?” उनकी इतनी स्पष्ट स्वीकृति ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

श्री नरसिंह राव प्रधानमंत्री हुए, और डॉ. मनमोहन सिंह देश के अर्थमंत्री। सरकार ने मुक्त अर्थव्यवस्था की दिशा में बढ़ना शुरू किया। १९८८ में विश्व व्यापार कि शर्तें तय करने के लिए बनी संस्था गैट (GATT) की उरुग्वे बैठक १९८६ में हुई। इस बैठक में पहली बार कृषि-व्यापार पर चर्चा प्रारम्भ हुई। लेकिन, अमेरिका और यूरोप के बीच कृषि-सब्सिडी के मुद्दे पर विवादों के कारण १९९५ तक कोई समझौता नहीं हो सका। उस समय हमारे देश में इस विषय पर कोई चर्चा ही नहीं थी क्योंकि हम मंदिर-मस्जिद विवाद में उलझे हुए थे। ३ जनवरी १९९५ को उरुग्वे-वार्ता में अमेरिका और यूरोप के बीच कृषि व्यापार के विषय में समझौता हुआ, जिसे 'डंकेल ड्राफ्ट' के नाम से जाना जाता है। गैट का विलय कर विश्व व्यापार संगठन (WTO) नाम का नया संगठन अस्तित्व में आया।

नरसिंह राव - मनमोहन सिंह सरकार ने मुक्त अर्थव्यवस्था की दिशा में नीतियाँ बनाना शुरू कर दिया था। उद्योगों को कोटा-परमिट राज से मुक्त कर दिया गया था। रूपये का अवमूल्यन भी हो चुका था। इसी दौरान इन घटनाओं को लेकर किसान आन्दोलन में दो वैचारिक प्रवाह बन गए - एक, मुक्त अर्थव्यवस्था का समर्थक, और दूसरा, विश्व व्यापार संगठन का विरोधक। पहले ने यह दावा किया कि विश्व व्यापार संगठन में हुए कृषि समझौते के कारण अमेरिका और यूरोप के देश उनके किसानों को उस मात्रा में कृषि-सब्सिडी नहीं दे पायेंगे जिस मात्रा में वे देते आये हैं। परिणामवश उनकी लागत बढ़ेगी, विश्व बाजार में कृषि-उपज के दाम बढ़ेंगे, और भारत सरकार आयात के बल पर देश के अन्दर उपज के दाम गिरा नहीं पाएगी। इसके साथ ही कृषि उपज की हमारी निर्यात बढ़ेगी और अच्छे दाम मिलेंगे। यह भी तर्क दिया गया कि तब सरकार से दाम माँगने की जरूरत ही न रहेगी: “सरकार समस्या क्या सुलझाए? सरकार ही समस्या है!” १९९४-९५ में दुनिया के बाजार में दाम कुछ अधिक थे जिससे इस तर्क को कुछ बल मिला। इसी समय राव सरकार ने विश्व व्यापार संगठन को दिए दस्तावेज़ में यह कहने का प्रयास किया कि दरअसल भारत में किसानों को निगेटिव सब्सिडी है - अगर अंतर्राष्ट्रीय बाजार में दाम १०० हों, तो न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) ७० हैं - अर्थात् ३० फीसदी की निगेटिव सब्सिडी है। इसका मतलब यह था कि एमएसपी बढ़ाने कि जरूरत थी, और सरकारी हस्तक्षेप के बगैर बाजार में बढ़ाये हुए दाम मिलने की कोई गुंजाईश

नहीं थी। अमेरिका और यूरोप के अमीर देश सब्सिडी कब कम करेंगे इसका जवाब भी किसी के पास नहीं था।

विश्व व्यापार संगठन और नई आर्थिक नीति के विरोधकों का कहना था यह तो गरीब देशों को लूटने की नव-उपनिवेशवादी नीति है। अमीर देशों में सब्सिडी के सहरे होने वाले अतिरिक्त कृषि उत्पाद को गरीब देशों पर थोपने की नीति है, जिसमें बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ भारी मुनाफ़ा कमाएँगी। आज सत्ताइस साल बाद २०२२ में यह कहना गलत न होगा कि अमेरिका-यूरोप ने आज तक कृषि की सब्सिडी नहीं घटाई है!

१९९७ के बाद दुनिया के बाजार में कृषि उपज के दाम गिरने लगे थे। गरीब देशों की आयात में भी वृद्धि हुई। विशेषतया कपास, रबर, पाम तेल, कॉफी और काली मिर्च के दाम बहुत गिरे। इन चीजों की आयात भी बढ़ी, और निर्यात करने वालों को भी अच्छे दाम नहीं मिल पाए। कपास, नारियल, काली मिर्च, और रबर उत्पादकों की आत्महत्याओं में वृद्धि होने लगी। कृषि-समस्या के भाष्यकार और पत्रकार श्री पी. साईनाथ ने वियतनाम से काली मिर्च की आयात के कारण केरल के किसानों की आत्महत्याओं में हुई वृद्धि का वर्णन किया है। उन्होंने यह दिखाया है कि श्रीलंका से होने वाली आयात वहाँ के कुल उत्पादन से भी अधिक थी क्योंकि आयातित काली मिर्च वास्तव में वियतनाम की पैदावार थी और श्रीलंका से महज इसलिये मंगवाई जा रही थी कि वहाँ से होने वाली आयात भारत के साथ उस देश के एक समझौते के तहत कर-मुक्त थी!

कपास उत्पादक किसानों की आत्महत्याएं भी १९९७ के बाद ही बढ़ने लगीं। विश्व-बाजार में रुई के १९९५ के २ डालर ४० सेंट प्रति किलो के दाम गिर कर १ डालर ५५ सेंट हो गए थे और देश के अंदर कपास के दाम २५०० रु. प्रति कुंतल से गिर कर १५००-१६०० रु. प्रति कुंतल! १९९७ से २००३ तक ११० लाख गाँठ कपास ($१ \text{ गाँठ कपास} = १५६ \text{ किलो रुई}$) की आयात की गई। जो देश लैंकेशायर-मैचेस्टर की कपड़ा मिलों के लिए कपास निर्यात करता था, वह आयात करने लगा था। मुक्त व्यवस्था के समर्थक इस पर मौन थे। मिल-मालिकों के दबाव में अटल जी की सरकार ने कपास पर आयात शुल्क घटा कर मात्र ५ फीसदी कर दिया था। महाराष्ट्र में नागपुर में श्री गडकरी और परली-वैजनाथ में श्री गोपीनाथ मुंडे के घरों के सामने हमारे धरने के बाद देश के

अर्थमंत्री श्री यशवंत सिन्हा ने आयात शुल्क १० फीसदी तक बढ़ाया था। परन्तु, खाने के तेल और शक्कर में इतनी अधिक मंदी थी कि अटल सरकार इन पर का आयात कर ५० और ६० फीसदी तक बढ़ाने के लिए बाध्य हो गई थी। यह बाजार में हस्तक्षेप ही था।

डॉ. कुमारपा की चेतावनी को नजरंदाज किया

हमारे कृषि-प्रधान देश में कृषि मूल्य आयोग की स्थापना तो १९६५ में हुई, लेकिन सरकारी कर्मचारियों के लिए वेतन आयोग तो १९४७ में ही बना दिया गया था! हर दस साल में यह आयोग सभी कर्मचारियों और अधिकारियों के लिए न्यूनतम वेतनों की सिफारिश करता है। इन्हीं सिफारिशों के आधार पर सेना में सेवारत सैनिकों और अफसरों के वेतन भी निश्चित किये जाते हैं। अंग्रेजों के जमाने से सरकारी नौकरों और किसान-मजदूरों के वेतनों में जान-

सात वेतन आयोगों की सिफारिशें

क्र.	वेतन आयोग	न्यूनतम वेतन	अधिकतम वेतन	आयोग के अध्यक्ष	टिप्पणी
1.	पहला	55		श्रीनिवास वरदाचारी	1947
2.	दूसरा	80		जगन्नाथ दास	1957, सरकारी तिजोरी पर बोझा 80 करोड़ सालाना बढ़ा
3.	तीसरा	185 (196)		रघुवीर दयाल	1970, आधार बदला : लिविंग वेज से नीड-बेस्ड वेज'
4.	चौथा	750	9000	पी एन सिंघल	1983, बढ़ोत्तरी >साठे-तीन गुना
5.	पाँचवाँ	2500	30000	एस रतनवेल पांड्यन	1994, बढ़ोत्तरी > तिगुना
6.	छठा	7000	80000	बी एन श्रीकृष्ण	2006, बढ़ोत्तरी > ढाई गुना
7.	सातवाँ	18000	250000		2016, बढ़ोत्तरी > ढाई गुना से तिगुना, सरकारी तिजोरी पर बढ़ा बोझः 1 करोड़ कर्मचारी के लिए 1 लाख करोड़ सालाना

बूझ कर अंतर रखा जाता है, यह बात तो किसानों के मसीहा महात्मा जोतीराव फुले ने अपनी मराठी पुस्तक ‘शेतक-याचा आसूड’ ('किसानों का चाबुक') में ही लिख रखी है: “गोरे अंग्रेज की सरकार ने सरकारी कर्मचारियों के वेतन बढ़ा कर, और किसानों पर कई प्रकार के कर लगाकर किसानों को कर्जे के बोझ तले दबा दिया है।” हम पहले से ले कर सातवें वेतन आयोग (तालिका देखें) का अध्ययन करें तो यह बात एकदम खुल कर सामने आ जायेगी। हमारा वेतन आयोग को कोई विरोध नहीं है, लेकिन अगर आजाद भारत में डॉ कुमारप्पा की चेतावनी को नजरंदाज कर वेतन आयोग का इस्तेमाल विषमता बढ़ाने के लिए किया जा रहा हो तो उसका जिक्र तो करना ही होगा।

एक तरफ, देश और विश्व-बैंक (WB) तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा - कोष (IMF) के अर्थशास्त्रियों का मानना है कि इस प्रकार की वेतन वृद्धि से बाजार में होनेवाली मुद्रा की बढ़ोत्तरी मुद्रास्फीति का कारण नहीं बनती। दूसरी तरफ वे यह भी कहते हैं कि कृषि-उपज के दाम बढ़ाने से महंगाई और मुद्रास्फीति होती

वेतनों के निर्धारण में पक्षपात की नीति

श्री व्ही. पी. सिंह जब प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने पूर्व कृषि मंत्री श्री भानुप्रताप सिंह की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। भानुप्रताप जी से एक बार बातचीत का मौका आया। उस समय वहाँ भारत के तत्कालीन मुख्य सांख्यिकी अधिकारी डॉ. सैनी भी उपस्थित थे। शहर और गावों के बीच बढ़ती दूरी और संगठित क्षेत्र के वेतनों की बात चली। जब मैंने अपनी बात रखी तो डॉ. सैनी ने बताया कि अंग्रेजों ने वेतन-निर्धारण की दो प्रणालियाँ स्थापित कीं। एक, संगठित क्षेत्र के लिए जिसमें एक कर्मचारी का न्यूनतम वेतन पांच सदस्यों के परिवार की जरूरतें पूरी करने के लिए पर्याप्त होना जरूरी है; और दूसरी, असंगठित क्षेत्र के कामगारों के लिए जिसमें एक कामगार का वेतन उसे जीने के लिए आवश्यक कैलोरी खाद्य-ऊर्जा खरीदने में जो खर्च होगा उतना होगा! डॉ. सैनी का कहना था: जब तक इस प्रकार की दो प्रणालियाँ चलेंगी तो आप जिस असमानता की बात करते हैं वह कैसे खत्म हो सकती है?

आज २०२२ में भी क्या यही भेदभावपूर्ण व्यवहार कायम नहीं है?

है। यह अगर गुलामों को गुलाम बनाए रखने के लिए अंग्रेजों का दिया हुआ दिमाग और नीति नहीं तो और क्या है?

उदारीकरण और किसान

१९९०-९१ के बाद से जो नीतियाँ बनीं उनसे, कहा जाता है कि कोटा-परमिट राज समाप्त किया, औद्योगीकरण बढ़ा, गरीबी कम हुई। इन बातों को मान भी लें, तो क्या असमानता नहीं बढ़ी? किसानों की आत्महत्याएं नहीं बढ़ीं? गावों से पलायन भी तो बढ़ा! दर असल सरकारी हस्तक्षेप कम होने से नहीं बल्कि सरकार की पोषक नीतियों के कारण उद्योग बढ़े! इसकी कोई चर्चा क्यों नहीं हो पाती? वेतन आयोगों की वेतन वृद्धि से बड़ी क्रयशक्ति वाला एक उच्च-मध्यम वर्ग बनाया गया। इस वर्ग के लिए 'कर्ज लो और फ्रिज, मायक्रोवेव-ओवन, वॉशिंग-मशीन, स्कूटर, मोटरसाइकिल, कार और बड़े उद्योगों का उत्पाद खरीदो' की प्रणाली स्थापित कर एक समानांतर अर्थव्यवस्था खड़ी की गई। कर्ज वापसी की किश्तों का भुगतान हो सके इसके लिए खाने-पीने की वस्तुओं के दाम नीचे रखे गए। कृषि-उपज की आयात का इस्तेमाल भी दाम गिराने के लिए ही था और है। इन नीतियों के कारण शहर और गाँव के बीच

कृषि-मूल्य और लागत आयोग के तीन लागत मूल्य

भारत सरकार का कृषि मूल्य और लागत आयोग तीन प्रकार के लागत मूल्य निकालता है:

- क.** ए२ (A2): इसमें बाहर से नगद देकर खरीदे और खेती में इस्तेमाल किये गए बीज, खाद, रसायन, पानी, मजदूरी इन सबका समावेश है;
- ख.** ए२+एफएल (A2+FL): इसमें ए२ के साथ परिवार के सदस्यों के श्रम का मूल्य भी जोड़ा जाता है; और
- ग.** सी२ (C2): इसमें ए२ + एफएल के अलावा जमीन पर खर्च तथा किराया और पूँजी खर्च, जैसे, कूआँ ट्यूबवेल इ. के लिए कर्ज पर का ब्याज भी जोड़ा जाता है।

अंतर इतना बढ़ने लगा कि सरकार को भी गाँव में पैसे का प्रवाह (money supply) बढ़ाना आवश्यक लगने लगा। २००९ के चुनाव आते आते डॉ. मनमोहन सिंह ने महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना (मनरेगा), देशभर के किसानों की कर्ज - माफी, और २००८-०९ के लिए खरीफ फसलों की एमएसपी में २८-५०% की वृद्धि की घोषणा की। मनरेगा में गाँव के हर परिवार के एक सदस्य के लिए कम से कम १०० दिन का रोजगार और कुल चालीस हजार करोड़ का प्रावधान किया गया, और कर्ज-माफी के लिए सत्तर हजार करोड़ का। समर्थन मूल्य में वृद्धि सबसे महत्वपूर्ण कदम था। धान का मूल्य २००७-०८ के ६४५ रु कुंतल से ८५० रु किया गया, तथा कपास का २०३० रु से ३००० रु। कपास का मूल्य तो सीर+५०% के फार्मूले से तय किया गया था।

इन घोषणाओं ने २००९ के चुनाव में कांग्रेस को जीत हासिल करा दी। लेकिन २००९-१४ की मनमोहन सरकार ने फिर किसान और गाँव-विरोधी निर्णय ही लिए। शहरों की तरफ झुकाव फिर बढ़ने लगा। सभी अर्थशास्त्री कृषि-उपज के दाम बढ़ाने का विरोध करने लगे। विपक्ष में भाजपा ने महंगाई के नाम पर प्रदर्शन किये। दुनिया में मंदी और कपड़ा मिल-मालिकों के सरकार पर दबाव के कारण अगले तीन साल कपास का समर्थन मूल्य ३००० पर ही बना रहा। भाजपा ने मनमोहन सरकार में प्रधाचार का फ़ायदा उठाया। किसानों का असंतोष भांप कर मोदी जी ने कृषि-उपज के लिए किसानों का सारा खर्चा सीर (देखें बॉक्स) पर ५०% मुनाफ़ा देने की बात कह दी। युवकों को गुजरात माडल से मोहित कर हर साल दो करोड़ नए रोजगार खड़े करने कि बात कही गई। इस चुनावी जुमले पर प्रधानमंत्री बनते ही सर्वोच्च न्यायालय में मोदी सरकार ने शपथ-पत्र दे कर कह दिया कि सीर+५०% के दाम नहीं दिए जा सकते क्योंकि इससे व्यापार पर बुरा असर पड़ता है। छत्तीसगढ़ और मध्य-प्रदेश के भाजपाई मुख्यमंत्री एमएसपी पर १००-१५० रु बोनस देकर गेहूं और धान खरीदते थे। प्रधानमंत्री कार्यालय ने सभी मुख्य-मंत्रियों को बोनस की खरीद तुरंत बंद करने के आदेश दिए। बाजार में एमएसपी के दाम भी नहीं मिल रहे थे। सरकारी खरीद और किसानों में असंतोष दोनों बढ़ने लगे। आन्दोलन का दबाव भी बढ़ने लगा। मध्य प्रदेश में मंदसौर में गोली चली। पांच किसान शहीद हुए। चुनाव भी नजदीक आ रहे थे। मोदी जी ने २०२२ तक किसानों की आय दुगुनी करने की बात कह दी और स्व. जेटली जी ने घोषणा कर दी कि

भारत सरकार ने लागत पर ५०% मुनाफा जोड़ कर फसलों के दाम तय करने की नीति स्वीकार कर ली है। इसमें फिर धोखा दिया गया। स्वामीनाथन आयोग की सिफारिश के मुताबिक़ सीर+५०% की जगह ए२+एफएल+५०% के दाम घोषित किये गए। इसे तो मनमोहन सरकार ने वैसे ही पहले से करीब-करीब लागू कर ही दिया था!

वर्तमान आन्दोलन

२०१९ के चुनावों से पहले हर किसान को हर वर्ष ६००० रु. के किसान सम्मान निधि कि घोषणा की गई। मोदी जी दूसरी बार प्रधानमंत्री बने उस समय दुनिया में मंदी थी और घोषित समर्थन मूल्य भी किसानों को नहीं मिल रहे थे। किसानों में असंतोष बढ़ रहा था। अलग अलग पार्टियों की राज्य सरकारें कर्ज-माफी योजनाओं की घोषणा कर रही थीं। उसी समय करोना महामारी ने दुनिया को अपनी चपेट में ले लिया और मंदी की तीव्रता बढ़ती गई। सरकार को जिन कार्यक्रमों को प्राथमिकता देनी थी उनके चलते सीर + ५०% तो दूर, घोषित नीति के अनुसार ए२+एफएल+५०% भी देना मोदी जी के लिए मुश्किल होता जाता था। इस एमएसपी की जिम्मेदारी से पूरी तरह मुक्त होने की मंशा से उनकी सरकार ने जून २०२० में तीन अध्यादेश जारी कर दिए। किसानों की ओर से अध्यादेशों का जोरदार विरोध प्रारम्भ हो गया। ऐसा होते हुए भी संसद में बिना किसी चर्चा के बहुमत के आधार पर अध्यादेशों को कानूनों का रूप दे दिया गया। ये तीन कानून देश भर में कहीं भी अपनी उपज बेचने की छूट, कंपनियों को ठेके पर खेती चलाने की छूट, और जीवनावश्यक वस्तु कानून में भारी परिवर्तन से सम्बंधित थे। पहला कानून ‘एक देश-एक बाजार’ बनाने के लिए था। दूसरे के अंतर्गत कम्पनियाँ किसानों से कानूनी समझौते कर उगने वाली फसल के दाम की गारंटी, और खेती में लगने वाली वस्तुएं भी उपलब्ध करातीं। तीसरे का मतलब था कि कम्पनियाँ सीधे किसान से उपज खरीद कर अपने गोडाउन, साइलो में जमा कर सकतीं और बाजार में बेचने के दाम खुद तय करतीं। तीनों कानूनों में कहीं भी समर्थन मूल्य की कोई बात नहीं थी।

किसानों ने ताड़ लिया था कि अपनी जिम्मेदारी मोदी जी अपने उद्योगपति मित्रों को सौंप रहे हैं। अडानी जी के गोडाउन कानून बनाने से पहले ही पंजाब में बन चुके थे। राष्ट्रपति के अध्यादेशों के बाद ही पंजाब के किसानों ने उनका

जोरदार विरोध करना शुरू कर दिया था, और हरियाणा का किसान भी विरोध में शामिल हो गया। दिल्ली के तेरह महीनों के धरने और चर्चा के ११ दौर होने के बाद भी सरकार एमएसपी पर कानून बनाने से कतरा रही थी। किसान संगठनों ने कानून वापसी और एमएसपी की कानून गारंटी की बात नहीं छोड़ी। सरकार की आन्दोलन में फूट पैदा करने और ताकत के इस्तेमाल से उसे कुचलने की हर कोशिश नाकामयाब सिद्ध हुई। जिस तानाशाही तरीके से कानून लाये गए थे उसी तरीके से वे आखिर १९ नवम्बर २०२१ को वापस ले लिए गए। २९ नवम्बर को कानून वापसी का बिल बिना चर्चा के पास किया गया। परन्तु स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों पर आधारित एमएसपी का कानून टाल दिया गया। अभी तक इसके लिए समिति भी नहीं बनी है।

कृषि-उपज के 2021-22 के सी2, सी2+50%, और 2021-22 तथा
2022-23 की एमएसपी

क्र.	कृषि उपज	Sी2	Sी2+50%	एमएसपी	
		2021-22	2021-22##	2021-22##	2022-23
1.	धान	1727	2590	1940	2040
2.	जवार	2478	3717	2738	2970
3.	बाजरा	1579	2368	2250	2350
4.	रागी	3004	4506	3377	3578
5.	मक्का	1654	2481	1870	1962
6.	अरहर	5291	7936	6300	6600
7.	मूँग	6110	9165	7275	7755
8.	उड्ढ	5133	7500	6300	6600
9.	मूँगफली	4732	7096	5550	5850
10.	सोयाबीन	3439	5158	3950	4300
11.	सूरजमुखी	5027	7540	6015	6400
12.	कुसुम	6653	9080		
13.	तिल	6443	9665	7307	7830
14.	कपास*	5169	7754	5726	6080
				6025	6380

*कपास के लिए मीडियम और लॉन्ग धागा दोनों के दाम दिखाए गए हैं

##इन दो कॉलम में दिए 2021-22 के सी2+50% और एमएसपीकी तुलना करें

इस वर्ष अमेरिका और ब्राझील में अकाल के कारण कपास और सोयाबीन का उत्पादन घटा। परिणामवश हमारे यहाँ बाजार में इन दोनों उपज को एमएसपी से अधिक दाम मिल रहे हैं। रूस-युक्रेन युद्ध ने गेहूँ की आपूर्ति पर जो असर किया उसके कारण गेहूँ के दाम अंतर्राष्ट्रीय बाजार में ५-६ डॉलर प्रति बुशेल, मतलब लगभग १४१५ - १७०० रु प्रति कुंतल (१ बुशेल = सवा-सत्ताईस किलो, १ कुंतल = ३.६७५ बुशेल) से बढ़कर ३६८० - ३९६० रु. प्रति कुंतल तक पहुँच गए। देश के बाजारों में भी २२०० - २४०० रु. प्रति कुंतल मिलने लगे।

लेकिन गेहूँ की संभावित निर्यात पर तुरंत रोक लगा दी गयी। सरकार की किसान-विरोधी नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कुछ ही दिन पूर्व सरकार ने खरीफ की फसलों के जो समर्थन मूल्य घोषित किये हैं वे पिछले वर्ष की तुलना में मात्र ५-८ फीसदी अधिक हैं। इस वर्ष तो मुद्रास्फीति ही ६-१० फीसदी के आसपास है। कृषि लागत में ही २०-२५ प्रतिशत का इजाफा हुआ है। घोषित समर्थन मूल्यों का आधार ए२ + एफएल + ५०% ही है। २०२१-२२ के लिए सी२ के उपलब्ध आंकड़े (तालिका देखें) बताते हैं कि अगर आधार ईमानदारी से सी२+५०% लिया जाता तो इस वर्ष के समर्थन मूल्य घोषित एमएसपी से ३० फीसदी अधिक होते।

इस वर्ष कपास के बाजार में १०००० - १२००० रु. प्रति कुंतल के दाम थे। कारण यह था कि अमेरिका के बाजार में रुई के दाम सवा-दो गुना बढ़ गए थे, और रुपये का भी कुछ अवमूल्यन हो गया था। इस तरह से बढ़े दामों को महंगाई कहना भी गलत है। अगर शेयर बाजारों में उछाल होता है तो उचित है, और कृषि-उपज के दाम बढ़ाते हैं तो महंगाई कैसे?

हमने किसान-विरोधी नीतियाँ, वेतन आयोग और कृषि मूल्यों की चर्चा की। मनमोहन सरकार सर्व समावेशक विकास की बात करती थी। मोदी सरकार सबका साथ- सबका विकास कहती है। क्या कृषि-उपज के दाम और खेतिहर मजदूरों की मजदूरी उस अनुपात में तक बढ़ी है जितना विधायकों पर सरकार का खर्चा बढ़ा है? किसान, मजदूर की आमदानी दुगुनी कैसे होगी? इसके लिए क्या खेतिहर और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की मजदूरी दुगुनी नहीं होनी होगी? क्या एमएसपी उसे लेकर सी२+५०% के बराबरी की नहीं होनी होगी? अगर आठवाँ वेतन आयोग २०२६ में गठित होता है तो पूर्व अनुभव

कहता है कि न्यूनतम वेतन ४५००० रु. प्रति माह हो सकता है। क्या इस अनुपात में कृषि क्षेत्र की आमदनी भी नहीं बढ़नी चाहिए? एमएसपी की कानूनन गरंटी की माँग के साथ इन सब सवालों पर आपस में विचार करना होगा। इस दिशा में कृषि-नीति में परिवर्तन होगा तभी इंसान की जिन्दगी देनेवाली अर्थनीति और राजनीति सफल हो सकेगी।



**हम सिर्फ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का नहीं,
तीसरी दुनिया को उपनिवेश बनाने वाली
सभी कोशिशों का विरोध करते हैं!**

- प्रो. नन्जुंडस्वामी

**किसान नहीं तो अन्न नहीं,
अन्न नहीं तो भविष्य नहीं!**

- किसान आन्दोलन (२०२०-२१)

आय का सवाल, ज्ञान और किसान आंदोलन

कृष्ण गांधी

आज लोकविद्याधरों के सामने अपनी मेहनत के बल पर वे एक सम्मानपूर्वक ज़िंदगी कैसे बिताएँ यह चुनौती है। इसका दूरगामी उपाय लोकविद्याधर समाज का स्वराज स्थापित करना ही है। पर फिलहाल तो लोकविद्या समाज के पक्ष में प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप के बल पर ही इसके निराकरण की संभावना नज़र आती है। लोकविद्याधर समाजों की आय बढ़ाने की सरकारी नीति की तत्काल आवश्यकता है।

दिल्ली की सीमाओं पर ३८० दिनों तक चला किसान आंदोलन स्थगित कर दिया गया है। २२ फसलों के लिए एमएसपी की कानूनन अनिवार्यता की मांग आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण और दूरगामी मांग रही है। एमएसपी के इस मुद्दे पर एक कमेटी बनाई जाएगी, लेकिन उसकी कार्यशर्तों का खुलासा नहीं हुआ है।

इसमें दो राय नहीं है कि खेती किसानी करनेवाला समाज ज्ञानवान कुशल श्रमिकों का समाज है। मौसम, मिट्टी, पानी, खाद, बीज, पौधों का स्वास्थ्य, बीमारी के उपाय, खरपतवार की रोक आदि पर ज्ञानपूर्वक प्रयोग, खेती का प्रबंधन, उत्पादन का प्राथमिक प्रसंस्करण, बाजार में लेन देन, पूँजी का प्रबंधन, सरकारी विभागों से निपटना, ऐसे तमाम कार्य खेती से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। सरकारी कर्मचारी, कॉर्पोरेट मैनेजर, इंजीनियर या अस्पतालों में कार्यरत डॉक्टर, नर्स, इन के कार्यों की तुलना में खेती-किसानी बराबर के या कहीं अधिक जटिल कार्य मालूम पड़ते हैं। लेकिन कुशल प्रबंधक, कुशल श्रमिक की बात तो दूर, मनरेगा में कार्य करनेवाले अकुशल मज़दूर की मज़दूरी के बराबर तक भी किसान की मेहनत को आंका नहीं जाता है। कृषि लागत और मूल्य आयोग (Commission for Agricultural Costs and Prices, CACP) जिन २२ फसलों के लिये सरकार से एमएसपी की सिफारिश करता है, उनकी गणना में किसान का श्रम मनरेगा की मज़दूरी से भी कम पड़ता है।

संगठित क्षेत्र (सरकारी विभाग, कॉर्पोरेट इकाइयां) में कार्य करने वाले अमूमन बी टेक, एमबीए, या अन्य उपाधि-धारी होते हैं और इस कारण उन्हें

ज्ञानवान माना जाता है। इन यूनिवर्सिटी - कॉलेज के पढ़े लोगों के पास ही ज्ञान है, बाकी खेती-किसानी, बुनकरी, कारीगरी या अन्य पारंपरिक धंधे करने वाले (लोकविद्याधर) समाज के पास कोई ज्ञान नहीं है, या उनका ज्ञान निम्न दर्जे का है, इस मिथ्या पर आधारित राजनीति और अर्थनीति आज देश पर हावी है। लोकविद्याधर समाज का शोषण इस आधार पर किया जाता है कि उनका श्रम उतना मूल्यवान नहीं है, जितना कि यूनिवर्सिटी - कॉलेज में पढ़कर उपाधि प्राप्त करनेवाले विशिष्ट लोगों का। जब तक मानव समाज पर यह मिथ्या हावी रहेगी, तब तक लोकविद्याधर समाज का शोषण समाप्त नहीं हो सकता।

लोक विद्याधर समाज का सबसे बड़ा हिस्सा खेती-किसानी करनेवालों का है। स्वतंत्र भारत के किसान आंदोलन में किसानों की आय का मुद्दा करीब पचास वर्षों से छाया हुआ है। एमएसपी को कानूनन अनिवार्य बनाने की मांग के पीछे किसान असल में अपने श्रम और ज्ञान के लिये संगठित क्षेत्र में कार्यरत लोगों के श्रम और ज्ञान के बराबर का दर्जा मांग रहा है।

किसान आंदोलन की इस मांग को संगठित क्षेत्र से जुड़े पढ़े लिखे लोग पचा नहीं पा रहे हैं। उन्हें लगता है कि किसान अपनी औकात के बाहर बढ़ रहा, है और वर्तमान तंत्र और उसे संचालित करनेवालों के वर्चस्व को ही चुनौती दे रहा है। अतः साम, दण्ड, भेद, किसी भी तरीके से किसानों की मांग ठुकराने की कोशिश हो रही है। तरह-तरह के बहाने खोजे जा रहे हैं। जैसे सभी फसलों के लिये देश भर एमएसपी कानूनन अनिवार्य करना असंभव है, क्योंकि इस से सरकार दिवालिया हो जाएगी। पर वास्तविकता तो यह है कि किसानों को एमएसपी दिए बगैर ही सरकार और वित्त व्यवस्था दिवालिया हो रहे हैं। अग्रणी कॉर्पोरेटों द्वारा कर्ज में लिया गया लाखों करोड़ रुपया ढूब रहा है, और एनपीए में तब्दील हो रहा है। इतना ही नहीं कि इसका कोई इलाज नहीं हो रहा है, सरकार और कुछ विशिष्ट लोग इसको लेकर गंभीर भी नहीं हैं। दूसरी तरफ किसानों को एमएसपी अनिवार्य रूपसे देने पर वित्त व्यवस्था ढूब जाएगी इसका ढिंढोरा पीटा जा रहा है। अनुमान है कि एमएसपी कानूनन अनिवार्य करने पर कुछ लाख करोड़ रुपये अतिरिक्त खर्च होंगे। वर्तमान में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों पर एनपीए १० लाख करोड़ रुपये के ऊपर है। जो प्रतिवर्ष कुछ लाख करोड़ रुपये की दर से बढ़ता जा रहा है। अतः एमएसपी कानूनन लागू होना और अर्थव्यवस्था के डगमगाने की बात, इन दोनों को एक दूसरे से जोड़ना बिलकुल तर्कसंगत नहीं है।

देश की कुल आबादी में आधे से ज्यादा हिस्सा किसानों का है। असंगठित क्षेत्र को जोड़ें, अर्थात् सम्पूर्ण लोकविद्याधर समाज की चर्चा करें तो उनकी

आबादी कुल आबादी का ८०-९०% पहुंच जाती है। सवाल उठता है, कि कृषक समाज या सम्पूर्ण लोकविद्याधर समाज की आमदनी तुलनात्मक रूप से दुगुनी करने पर देश कैसे चौपट हो जाएगा? समझ में यही आता है इस से सामाजिक विषमता कम होगी और सम्पूर्ण देश समृद्ध और खुशहाल होगा। पर कुछ विशिष्ट लोग इससे सहमत नहीं हैं। उल्टे वर्तमान में जिस प्रकार कुछ गिने चुने कॉर्पोरेट घरानों की तिजोरियों में देश की आधी संपत्ति बंद हो रही है, जिससे देश का गरीबीकरण और बेरोजगारीकरण भयानक रूप ले रहा है। पर इसे विकास बतानेवाले विशिष्ट लोग सरकार और मीडिया पर हावी हैं। विकास के नाम पर चल रहे इस दोगलेपन को ही किसान आंदोलन चुनौती दे रहा है।

किसानों की आय दुगुनी करना सरकार की घोषित नीति है। लेकिन कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि इस घोषणा के पीछे सरकार का विचार यह है कि जब संगठित क्षेत्र के लोगों की आय चौगुनी होगी, तब जाकर किसानों की आय दुगुनी होगी! वरना एमएसपी के कानून सरकार कब का अमल कर चुकी होती।

व्यापक संदर्भ में देखें तो किसानों की आय बढ़ाने की दो नीतियां सकती हैं: एक, एमएसपी द्वारा फसलों के दाम बढ़ाकर और उसे कानून अनिवार्य बनाकर; और दो, किसान और सारे लोकविद्याधर समाज के बैंक खातों में सरकारी खजाने से पैसे सीधे ट्रांसफर कर, जिसकी झलक प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि योजना में हम देख सकते हैं।

विश्व व्यापार संगठन के अंतर्गत कृषि पर जो समझौता हुआ है, उसकी दृष्टि में फसलों के मूल्य सीधे सरकारी समर्थन और सब्सिडी के द्वारा बढ़ाने की क्रिया को बाजार के मूल्यों से छेड़-छाड़, अर्थात् मुक्त-बाजार के नियमों का उल्लंघन समझा जाता है। इस प्रकार की क्रिया का प्रयोग किसी भी एक फसल, तथा एक साथ सभी फसलों के लिए कुल उत्पादन की बाजार में कीमत के अनुपात में एक सीमा (डी मिनिमिस लेवल) तक ही स्वीकार्य है। यह सीमा विकासशील देशों के लिए प्रत्येक फसल के कुल उत्पादन, और कुल कृषि उत्पादन दोनों के लिए १० प्रतिशत है। विकसित देशों के लिये यह ५ प्रतिशत की है। भारत में खाद्य सुरक्षा के नाम पर ही रही सरकारी खरीद और भंडारण पर सरकारी सब्सिडी गेहूँ, धान और चीनी के लिए उनके कुल उत्पादन के मूल्य से १०% से ज्यादा ही रही है, यह आरोप भारत पर विकसित देशों द्वारा लगाया जा रहा है। अतः सरकारी प्रत्यक्ष सब्सिडी से फसलों के मूल्य बढ़ाने की अधिक गुंजाई नहीं है, यह दलील दी जा रही है। खाद्य सुरक्षा, खाद्य संप्रभुता से जुड़े इस प्रश्न के प्रति सरकार का रुख क्या हो, यह एक विचारणीय मुद्दा है। एक

विकल्प यह है कि विश्व व्यापार संगठन (थड्ज, डब्ल्यू टी ओ) के कृषि समझौते से भारत बाहर निकले। क्या सरकार ऐसा कर पायेगी? दूसरा विकल्प विश्व व्यापार संगठन के कृषि समझौते को नए सिरे से इस तरह ढालने की कोशिश भारत व अन्य विकासशील देश मिलकर करें कि प्रत्यक्ष सब्सिडी द्वारा मूल्य समर्थन करने की छूट विकासशील देशों को प्राप्त हों।

किसानों की आय दुगुनी करने का दूसरा उपाय सरकारी खजाने से पैसे सीधे किसानों के बैंक खातों में प्रति एकड़ एक निश्चित राशि के रूप में जमा करना है। जैसे प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि योजना में वर्तमान में नाम मात्र के लिए किया जा रहा है। कोई भी किसान अपना आत्मसम्मान इसी में देखता है कि वह अपने पुरुषार्थ, अपनी मेहनत का फल भोग कर जिये, न कि किसी सरकारी भीख का मोहताज होकर। किसान सरकारी तंत्र पर निर्भर होकर जीना नहीं चाहता। यह तभी संभव है जब सरकार और कॉर्पोरेट दोनों के प्रभावों से आज के बाजार मुक्त हों और सम-विनिमय (equal exchange) के सिद्धांत पर चलनेवाले बाजारों का निर्माण हों। यह एक दूरगामी लक्ष्य है। यह किसान समाज का स्वराज का लक्ष्य है।

उपरोक्त लक्ष्य दो चरणों में हासिल हो सकते हैं। पहले चरण में यह कार्य करना होगा कि बाजारों को सरकारी हस्तक्षेपों से मुक्त करें। यह केवल एक हमारे देश की बात नहीं है, विश्व के हर देश की सरकार की बाजार में हस्तक्षेप करने की ताकत भी घटनी होगी। यह इसलिए जरूरी है कि आज सारी सरकारें मल्टीनेशनल कंपनियों के गुलाम हो चुकी हैं और वैश्वीकरण के इस दौर में मल्टीनेशनल कंपनियां विश्व बाजार पर सरकारों के ज़रिए अपना अधिपत्य जमा रहीं हैं। जब सरकारों का संरक्षण मल्टीनेशनल कंपनियों को प्राप्त होना बंद हो जाएगा, तब बाजार में छोटे उत्पादकों और उपभोक्ताओं की ताकत बढ़ेगी। और बाजार के सम-विनिमयी होने की संभावना भी बढ़ जाएगी। अतः दूसरे चरण का कार्य बाजारों को कॉर्पोरेटों के कब्जे से मुक्त कर बाजारों को सम-विनिमयी करने का होगा।

किसानों, छोटे उत्पादकों, कारीगरों, बुनकरों, व अन्य धंधे अपनाकर जीवनयापन करनेवाले लोकविद्याधर समाज के स्वराज पाने की दिशा क्या होगी? यह विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि जिस प्रकार का पूँजीवादी विकास दुनिया में चल पड़ा है, उससे लाभान्वित आबादी का हिस्सा आज १०-१५%

प्रतिशत ही है, और यह प्रतिशत निरंतर कम होता जा रहा है। टेक्नोलॉजी, विशेषकर डिजिटल टेक्नोलॉजी पर जिस तरीके से सरकारें और कॉर्पोरेट नियंत्रण बढ़ा रहे हैं, उससे राजनीतिक आर्थिक सत्ता केंद्रीकरण की प्रक्रिया तेजी से बढ़ रही है। इस सबका असर भारत के राष्ट्रीय सकल उत्पादन (जीडीपी) में देखा जा सकता है। जीडीपी में संगठित क्षेत्र का योगदान विगत कुछ वर्षों से तेजी से बढ़ रहा है और आबादी के ९० प्रतिशत लोकविद्याधर समाज का योगदान गिर रहा है। यह दर्शाता है कि सकल उत्पादन में मानव कौशल व श्रम महत्वहीन हो रहा है। मानव की भूमिका एक क्रियाशील उत्पादक से एक निर्जीव उपभोक्ता में सिकुड़ती जा रही है। दुनिया भर में कमोबेश यही हो रहा है। साथ में, लोकविद्याधर समाज में बेरोजगारों और अर्ध-बेरोजगारों की संख्या बढ़ती जा रही है। अतः आम उपभोक्ताओं के हाथ में क्रयशक्ति कैसे बढ़ें, यह आज अर्थशास्त्रियों की चिंता का मुख्य विषय बन चुका है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार, असंगठित क्षेत्र की आबादी की क्रयशक्ति भले ही न बढ़ें, पर उन्हें मरने से रोकने के लिये (वरना सामाजिक उथल-पुथल बढ़ेगी, अशांति बढ़ेगी) यूनिवर्सल बेसिक इनकम की योजना लागू करनी चाहिए। तो कुछ और अर्थशास्त्री, राजनेता जनसंख्या नियंत्रण लागू करने की वकालत करते हैं। लेकिन कोई भी अर्थशास्त्री बाजार में व्याप विषम-विनिमय आधारित लेन देन को समाप्त करने की बात करना तो दूर, उसकी ओर ध्यान देना तक नहीं चाहता है। आखिर पूँजीवाद का आधार यही तो है।

आज लोकविद्याधरों के सामने यह चुनौती है कि अपनी मेहनत के बल पर एक सम्मानपूर्वक ज़िंदगी कैसे बिताएं। इसका दूरगामी उपाय लोकविद्याधर समाज का स्वराज स्थापित करना ही है। पर तब तक आय के सवाल का निराकरण कैसे हो, इसपर स्पष्टता लाने की ज़रूरत है। ‘मरता क्या नहीं करता’, इस कहावत को सही मानते हुए, फिलहाल तो लोकविद्या समाज के पक्ष में प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप के बल पर ही इसके निराकरण की संभावना नज़र आती है। चाहे वह बाजार में लोक विद्याधर समाज द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य समर्थन के द्वारा हो या, सीधे राजकोष से पैसे के Transfer के द्वारा आय संवर्धन से। लोकविद्याधर समाजों की आय बढ़ाने की सरकारी नीति की तत्काल आवश्यकता है।



देश की खुशहाली का रास्ता एमएसपी में है

रामजनम, स्वराज अभियान

आजाद भारत में कारीगर, किसान, गांव और गरीब आर्थिक लूट के शिकार रहे हैं। तमाम राजनैतिक आर्थिक दंश झेलते हुए घायल अवस्था में भी यह समाज न्याय, त्याग एवं भाईचारा के मूल्यों के साथ इस बेरहम बर्बर सत्ता को चुनौती दे रहा है। यह बात संयुक्त किसान मोर्चा के द्वारा चले १३ महीने के किसान आंदोलन ने साबित कर दी है।

देश में एक साल से अधिक दिनों तक चले किसान आंदोलन ने राजनैतिक, आर्थिक और दार्शनिक विचारों की दुनिया में हलचल मचा दी है। किसान आंदोलन ने एक नये आर्थिक एवं राजनीतिक ढांचे पर सोचने के लिए विवश कर दिया है, जो इस देश की मिट्टी के विचार व मूल्य न्याय, त्याग और भाईचारे के आधार पर होगा। अपने कार्यक्रमों, नारों तथा अन्य गतिविधियों के मार्फत इस तरह के संकेत किसान आंदोलन लगातार दे रहा था। आंदोलन के दौरान आयोजित किसान संसद में इस देश का किसान कह रहा था कि दुनिया की बहुमूल्य चीज़ अनाज पैदा तो हम करते ही हैं साथ में देश और समाज की व्यवस्था भी चलाना जानते हैं। महिला संसद के जरिए किसान कह रहा था कि हम इस देश की मातृत्व शक्ति, धरती मां, गंगा मां को पहचानते हैं और देश की मिट्टी के खूबसूरत मूल्यों के साथ ही अपना गुजर-बसर करते हैं, हम रोटी तिजोरी में बन्द नहीं होने देंगे। उन्होंने हर हर महादेव - अह्ला-हू-अकबर का अपना पुराना नारा जोर से आगे बढ़ाया जिसके चलते भाजपा की नफरत की फसल कुछ समय के लिए पाला ग्रस्त हो गई थी। सरकार की कमेटी और कृषि के कापोरेटीकरण के विरोध में स्वदेशी एवं स्वराज की झलक मिलती है। किसान समाज में वह समझ और शक्ति है जिससे दुनिया की क्रूर आर्थिक घेरेबंदी को भेदा जा सकता है और स्वराज की नीति को आगे बढ़ाया जा सकता है।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान महान किसान नेता सहजानंद सरस्वती ने कहा था कि ‘जो अन्न वस्त्र का काज करेगा, वही देश पर राज करेगा’ स्वतंत्र भारत में किसान समाज के सबसे मजबूत अर्थशास्त्री, किसान नेता चौधरी

चरण सिंह का कहना था कि भारत के खुशहाली और दिल्ली की सत्ता का रास्ता खेत खलिहान से होकर निकलता है।

कृषि कानूनों को वापस लेने के लिए सरकार को बाध्य करने के बाद आज किसान आंदोलन न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी यानि मिनिमम सपोर्ट प्राइज़) पर टिक गया है। न्यूनतम समर्थन मूल्य की मांग मूलतः किसान की आय में बढ़ोतरी की मांग है। खेती किसानी को बदहाली से निकालने और किसानी में घाटा समाप्त करने की मांग है, किसान के श्रम और ज्ञान का न्याय संगत मूल्य मिले इसकी मांग है। पूरब-पश्चिम उत्तर-दक्षिण देश के अधिकांश किसानों की आय बहुत कम है क्योंकि किसानी घाटे का धंधा है। आजाद भारत में किसानी के घाटे का सवाल पहली बार डा. राममनोहर लोहिया ने उठाया था। आज किसानी से जुड़े अधिकांश लोग जीविकोपार्जन के लिए शहरों की तरफ भाग रहे हैं। किसानी से विस्थापित शहरी कामगारों के बल पर ही किसानों के परिवार जैसे-तैसे चल रहे हैं। नोट बंदी, महामारी और बेरोकटोक आगे बढ़ती हमारी क्रूर आर्थिक व्यवस्था ने इन कामगारों की दशा को बदतर बना दिया है। किसानों की फसल का वाजिब दाम एवं कामगारों के उत्पादन का वाजिब मूल्य न मिलने से देश में आत्महत्याएं और विस्थापन लगातार बढ़ रहा है। किसान अपनी फसल घाटे में बेचने के लिए मजबूर है। जब कभी किसान अपनी फसल के वाजिब दाम के लिए खड़ा होता है उसे लाठी-गोली खाकर शहीद होना पड़ता है। चाहे मन्दसौर हो या हाल के दिल्ली बार्डर का किसान आंदोलन हो।

यह सही है कि जब कभी किसानों की फसलों के थोड़े अच्छे दाम मिलते हैं, उस समय आस-पास के बाजारों में रौनक बढ़ जाती है। देश की इकोनॉमी में तेजी के साथ स्थानीय समाजों में खुशहाली भी बढ़ जाती है। इसलिए एमएसपी का महत्व बढ़ जाता है। एमएसपी पर कानूनी गारंटी की मांग किसान आंदोलन की एक जायज मांग है। कानूनी गारंटी का मतलब है चाहे सरकार खरीदे या बाजार, समर्थन मूल्य पूरा-पूरा मिलना चाहिए।

खेती किसानी में घाटा और बेरोज़गारी ने महामारी का रूप धारण कर लिया है। भारतीय समाज की इन दो बड़ी बीमारियों का आपसी सम्बन्ध क्या है? गौर से देखने पर पता चलता है कि दोनों बीमारियों की जड़ एक ही है। किसानी में घाटा और लगातार बढ़ती बेरोज़गारी, इस देश की मौजूदा राजनैतिक बनावट और आर्थिक ढांचे में निहित है। रोजगार का महासंकट देश की उस

आर्थिक व्यवस्था के चलते हैं, जो खेती और कारीगरी दोनों को घाटे का बनाये रखने पर ही फलती-फूलती है। इस महा संकट का हल एमएसपी की मांग में है। जैसे ही किसान की फसल और कामगार के श्रम व ज्ञान का न्याय संगत मूल्य मिलना शुरू होगा वैसे ही किसानी में घाटे और देश में बढ़ती बेरोजगारी का समाधान दिखाई देने लगेगा। मेरी अपनी समझ है कि इस देश के कृषि उद्यम और वस्त्र उद्यम का वाजिब मूल्य मिले तो इस देश की बेरोजगारी ५० फीसदी तुरंत कम हो जायेगी। एमएसपी में केवल किसान की आय का ही हल नहीं है बल्कि इस देश की बेरोजगारी का भी हल है।

दुनिया उथल-पुथल के दौर से गुजर रही है। मनुष्य समाज के श्रम, ज्ञान, विरासत और संसाधन को हड्डपने वालीं व्यवस्थाएं आकार ले चुकी है। छोटी पूँजी से जीविकोपार्जन एवं कारोबार करने वाले समाज के ८० फीसदी लोगों को दुनिया की आर्थिक संरचना ने अपने जाल में फँसाकर इधर-उधर भटकने के लिए मजबूर कर दिया है। यह पूरी आर्थिक व्यवस्था लोभ और ईर्ष्या में विकास का मूल देखती है। विडम्बना है कि जिस आर्थिक ढांचे को लोगों की खुशहाली का आधार बनना था वही आज अनेक लोगों के लिए विपन्नता, हताशा और आत्महत्या की नौबत ला रहा है। यह स्पष्ट है कि किसानी को घाटे में रख कर पूरा देश ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया चलती है। बड़े शहरों की चमकीली कोठियां, हवाई जहाज उतारने वाले ये चौड़े-चौड़े हाईवे वाले विकास माडल किसान, कारीगर, कामगार के श्रम एवं ज्ञान के मूल्य की लूट पर ही टिका है।

लूट के इस खेल में आधुनिक ज्ञान केन्द्र विश्वविद्यालय, साइंस और पूँजी का गठजोड़ है, जिसके चलते नैतिक मूल्यों के साथ क्रिया कलाप करने वाला समाजों का ज्ञान तिरस्कृत हो गया है और लूट में शामिल मूल्य रहित ज्ञान पुरस्कृत हो रहा है। किसान आंदोलन का संकेत है कि न्याय, त्याग और भाईचारा के मूल्य के मार्गदर्शन में अगले समाज परिवर्तन और नयी व्यवस्थाओं के बारे में सोचा जाना चाहिए। इस घाटे और लूट को खत्म करने की मांग देश और दुनिया बदलने की आवाज है। इसे परिवर्तन की मांग कहा जाता है। यह छोटी पूँजी के विस्तार एवं संरक्षण की मांग है। भारत की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा लगभग ७० - ८० फीसदी लोग छोटी पूँजी के व्यवसाय में लगे हैं। किसान कारीगर, बुनकर और तमाम ठेले, पटरी, गुमटी के दुकानदार और

स्थानीय बाजारों के ज्यादातर दुकानदार छोटी पूँजी से जीविका एवं व्यवसाय चलाने में माहिर हैं। किसान समाज के साथ ही छोटी पूँजी का बृहत्तर समाज, बेरहम आर्थिक तानाशाही का दंश झेल रहा है। महामारी की तरह हमारे चारों तरफ फैली बेरोजगारी का हल भी छोटी पूँजी के संरक्षण में ही है। पर्यावरण एवं प्रकृति को बचाने की अद्भुत शक्ति भी इन्हीं समाजों के पास है। भारत में बराबरी और खुशहाली का एक मात्र रास्ता भी यहीं से निकालता है। भारत में सामाजिक विषमता के खिलाफ और सामाजिक न्याय के अगले चरण का सूत्र किसान आन्दोलन में ही है।

आज दुनिया में पैसे का खेल बढ़ गया है। पैसे पर सूद कमाने वाले दुनिया के सबसे ताकतवर लोग हैं, जिन्होंने दुनिया के सामने संवेदनशील आर्थिक जाल बिछा दिए हैं, “ना बाबू ना भईया - सबसे बड़ा रुपइया” कहा ही गया है।

किसान आन्दोलन की एमएसपी की मांग का अर्थ और संदर्भ यों समझें।

१. एमएसपी की मांग न्याय संगत आय की मांग है। इसी मांग में दुनिया पर छाये बेरहम आर्थिक जाल को काटने या भेदने की ताकत है। हमारी मांग है कि एमएसपी को कानूनी संरक्षण दो।
२. एमएसपी की मांग में रोजगार एवं आय के सवाल का हल है और किसान, कारीगर, कामगार या छोटी-छोटी पूँजी से जीविकोपार्जन करने वाले बृहत्तर समाज की एकता का आधार है। इसलिए हमें हर हाल में एमएसपी चाहिए।
३. हर किसान परिवार में सरकारी कर्मचारी जैसी आय हो। एमएसपी का संघर्ष इस दिशा में आगे बढ़ने की शुरुआत है।
४. किसान के श्रम और ज्ञान का पूरा दाम तभी हासिल होगा जब सही गणना की एमएसपी मिलेगी।

देश का भविष्य तभी उज्ज्वल होगा जब किसानी घाटे की नहीं रहेगी। आप मानो या न मानो लेकिन आप की आने वाली पीढ़ियों का भविष्य किसान एवं किसानी में है, क्योंकि भारत का भविष्य किसान एवं किसानी में है। आजाद भारत में कारीगर, किसान, गांव और गरीब आर्थिक लूट का शिकार रहा है। तमाम राजनैतिक आर्थिक दंश झेलते हुए घायलावस्था में भी यह समाज

न्याय, त्याग एवं भाई चारा के मूल्यों के साथ इस बेरहम बर्बर सत्ता को चुनौती दे रहा है। यह बात संयुक्त किसान मोर्चा के द्वारा चले १३ महीने के किसान आंदोलन ने साबित कर दी है।

आज दुनिया की अर्थव्यवस्था डगमगा रही है। हमें अपने देश की अर्थव्यवस्था को बराबरी एवं खुशहाली रास्ते पर लाने के लिए, हमारे सामने नई चुनौतियां भी हैं और अवसर भी। आशा है कि देश का किसान नेतृत्व ऐसी स्थिति में एक नई आर्थिक संरचना के लिए एक मजबूत पहल करेगा और देश के आर्थिक और राजनीतिक भविष्य की दिशा निर्धारित करने में अपनी निर्णायक भूमिका निभायेगा।

आईये, हम सब मिलकर देश, दुनिया, समाज एवं प्रकृति पर्यावरण को बचाने के लिए किसानों के आय की न्याय संगत मांग, एमएसपी, के संघर्ष को आगे बढ़ाने में अपना योगदान करें।



**रोटी तिजोरी में बंद होने न देंगे!
भूख का व्यापार होने न देंगे!**

- किसान आन्दोलन (२०२०-२१)

किसान आन्दोलन और आय का सवाल

गिरीश सहस्रबुद्धे

एमएसपी का किसानों की आय से सीधा और सरल रिश्ता है। उतना ही सीधा रिश्ता किसान की आय और सामाजिक पुनरुत्थान का भी है। खेती में सम्मानजनक आय समाज में वितरित पूँजी का कार्य कर सकती है। बहुत संभव है कि यह पूँजी अन्य कई नए किस्म के उत्पादक और सामाजिक कार्यों में लगाई जाय, जो स्थानीय व्यवस्थाओं की मजबूती का आधार बनें, और स्थानीय समाज का आज की स्थिति में उथड़ा हुआ ताना-बाना फिर बुना जा सके।

२६ नवम्बर २०२० से दिल्ली की सीमाओं पर आन्दोलन करते किसानों को एक वर्ष तक हर प्रकार से डराने, धमकाने और प्रताड़ित करने की सरकारी कोशिशों के बाद १९ नवम्बर २०२१ को देश के प्रथान मंत्री महोदय ने तीन काले कृषि कानूनों को रद्द करने की घोषणा कर दी। संयुक्त किसान मोर्चा की ओर से आन्दोलन की अन्य माँगों, आंदोलक किसानों पर जारी मुकदमों और लखीमपुर-खेरी अत्याचार पर सरकार से खुलासे की माँग की गई। इसपर प्राप्त सरकारी प्रस्तावों पर विचार करने के बाद संयुक्त किसान मोर्चा ने आन्दोलन फिलहाल स्थगित करने की घोषणा की। इस जबरदस्त सफलता के बाद अब आन्दोलन अपने विस्तार, प्रचार और आपसी सोच-विचार के दौर में है। देश के कई इलाकों में मोर्चा की पंचायतें, मीटिंगें हो रही हैं। कार्यक्रमों की व्हाट्सएप ग्रुपों में चर्चा हो रही है। आन्दोलन के यू-ट्यूब और फेसबुक चैनलों पर कार्यक्रमों के विडियो देखने को मिल रहे हैं।

देश के वर्तमान माहौल में मोर्चा की जीत कोई मामूली घटना नहीं है। क्या यह सच नहीं कि सारे सरकारी प्रयासों और क्यासों के बावजूद आन्दोलन शांतिप्रिय बना रहा? तोड़-फोड़ के हर प्रकार के षडयंत्र से आमना-सामना हो तब, आप हर हेराफेरी से किनार कर, संयम बनाए रखने की ताकत तो फिर एक बार समाज में सत्य के पुनर्निर्माण की सम्भावनाओं का संकेत है। न्याय और आपसी भाईचारे की चाहत रखनेवाले सभी यह संकेत पहचान रहे हैं, और आन्दोलन के अगले चरण के प्रति बड़ी उम्मीदें संजोये हुए हैं। निस्संदेह यह

सामाजिक पुनर्जागरण के सन्दर्भ में, और विशेषतः देश और दुनिया की आज की स्थितियों में, आन्दोलन का महत्वपूर्ण स्थान दर्शाता है।

एमएसपी का सवाल

तीन कानूनों की वापसी के बाद भी आन्दोलन की जिन माँगों का समाधान नहीं हुआ है उनमें फसलों की एमएसपी (न्यूनतम समर्थन मूल्य) का सवाल सबसे अहम है। एमएसपी का किसानों की आय से सीधा और सरल रिश्ता है। वापस लिए गए तीन कानूनों को लाने का एक सरकारी मक्सद शायद धीरे-धीरे एमएसपी की जिम्मेदारी से मुक्त होने का भी था।

एमएसपी के मुद्दे पर सरकारी रवैय्या इस विषय में आन्दोलन के नजरिए से एकदम अलग है। सरकार की ओर से कई बार यह कहा गया कि वह एमएसपी को हटाना नहीं चाहती। लेकिन इसका मतलब मात्र इतना ही है कि वह, कमोबेश आज ही की तरह, गेहूं और धान की खरीद उस मात्रा में करती रहेगी, जितना कि राशन की दुकानों के लिए काफी होगा। वह भी तभी तक, जब तक कि राजनीतिक जरूरत हो। जहाँ तक राजनैतिक दलों का सवाल है, इस 'जरूरत' का अर्थ मात्र चुनाव जीतने तक सिमट कर रह गया है। दूसरी ओर किसानों के लिए एमएसपी का सीधा सम्बन्ध उनकी आय से है, जिसपर उनका स्वाभाविक हक्क बनता है। वे मानते हैं कि एमएसपी की व्यवस्था सारी कृषि उपज के लिए होनी होगी, जिससे बोआई के लिए फसल का चुनाव वे कर सकें, और सभी फसलों की पैदावार में संतुलन कायम हो। यह निश्चित किया जाय कि किसी भी फसल के किसान को एमएसपी से कम की आय न हो। सरकार इसके लिए कानूनी ढाँचा ईजाद करे।

इसके साथ ही एमएसपी के सरकारी हिसाब को भी किसान नकारते हैं। खेती किसानी के ज्ञान और श्रम दोनों के बल पर ही संभव है – किसी भी अन्य स्वस्थ सामाजिक मानवीय क्रिया की ही तरह। खेती की पैदावार का मुआवजा वही होगा जिसके बल पर किसान सम्मान की जिंदगी बसर करे और खेती भी खुशहाल हो। स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों में मूल मुद्दा भी कुछ ऐसा ही है। हर खेती-उपज की लागत सी-२ में ३०% और जोड़े तभी किसान के जीवन और खेती में खुशहाली की संभावना जागेगी। क्या सभी संगठित आधुनिक क्षेत्रों और उनमें व्यस्त मानवीय संसाधनों के लिए आय के यही मापदंड इस्तेमाल नहीं होते? क्या इन्हीं मापदंडों की कसौटी पर वेतन आयोग भी

सरकारी कर्मचारियों का वेतन तय नहीं करता? ऐसी स्थिति में किसानों के विषय में भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं हो सकता। किसानों की कौम इसकी इजाजत नहीं देती - न अपने बारे में, न ही किसी और समाज के बारे में। इस व्यावहारिक भेदभाव के खिलाफ वह सबके साथ है, सबसे आगे है।

किसान आन्दोलन की एमएसपी की माँग आय के सवाल पर इस पूरी बहस को सिर्फ किसानों के ही नहीं, बल्कि सारे शोषित समाजों के पक्ष में खड़ा करती है। यह बहस सार्वजनिक स्तर पर अगर खड़ी होती है तो उनके खिलाफ जारी व्यवस्थागत भेदभाव पर, और उससे उपजे हर उस दुराचार पर, जिनके कि वे निशाने पर रहते आये हैं, कई वाजिब सवाल उठेंगे। इतना ही नहीं, पूरे आन्दोलन के दौरान किसानों ने जिस ज्ञानगत आत्मविश्वास तथा सत्याग्रह का परिचय दिया है, उनकी पृष्ठभूमि पर यह उम्मीद बनती है, कि एमएसपी पर संभावी बहस को शब्दों के उस मायाजाल में नहीं फँसाया जा सकेगा, जो कुछ चंद लोगों को ही पोसने भर की क्षमता वाली आधुनिक दुनिया की आर्थिक-राजनीतिक प्राथमिकताओं को 'देश की जरूरत' कह कर बुना जाता रहा है।

किसानों की आय और बाजार

कृषि उपज के दामों का सवाल किसान आन्दोलन में पिछले चार दशकों से उठ रहा है। माँग उचित दाम की रही। एमएसपी तय करने में होनेवाली हेराफेरी पिछले किसान आन्दोलन का भी विषय रही। वर्तमान आन्दोलन ने एक बार फिर बड़ी ताकत के साथ इस सवाल को खड़ा किया है। जहाँ एक तरफ, गलत मापदंडों के आधार पर आंकी जाने के परिणामवश, सरकारी एमएसपी जो होनी चाहिए उससे काफी कम है, वहाँ दूसरी तरफ बाजार में किसान को वह भी हासिल नहीं होती। इसलिए एमएसपी की बहस सरकारी भेदभावपूर्ण रूपैय्या और बाजार का चरित्र दोनों पर एक साथ ध्यान केन्द्रित करती है।

देश के बाजारों में मिलनेवाले दाम फसलों के अंतर्राष्ट्रीय दाम तथा सरकार की आयात-निर्यात, मौद्रिक और राजकोषीय नीतियाँ इन सभी पर निर्भर हैं। ये नीतियाँ नियमित रूप से कृषि उपज के दामों को गिराने के लिए इस्तेमाल होती रही हैं। इन सब में से कब कौनसा कारक हावी होता है, यह तात्कालिक परिस्थितियों से तय होता है। जैसे, इस वर्ष वैश्विक बाजार में कपास के उत्पादन में हुई बड़ी घटौती के कारण दामों में इतनी तेजी है कि

जिसकी पूरी रोकथाम सरकार की ताकत से परे है। कपास, गेहूँ और पाम तेल के वर्तमान दाम यही स्थिति दर्शाते हैं। वैश्विक बाजार में कृषि उपज के दामों में एक बड़ा कारक यह है कि विकसित देशों की सरकारें कृषि उपज की अपनी निर्यात क्षमता बढ़ाने के उद्देश्य से अपने किसानों को सबसिडी देकर दाम गिराती हैं। वे यह कर पाते हैं क्यों कि इन देशों में किसानों की संख्या ४-५ प्रतिशत या और कम है। व्हाया कैम्पेसिना जैसे किसानों के अंतर्राष्ट्रीय संगठन, जिसमें इन देशों के किसानों की आवाज भी शामिल है, इस बात को मानते हैं। लेकिन इसके साथ उनका यह भी कहना है कि यह सबसिडी वास्तव में किसानों के लिए न होकर आधुनिक खेती में लगाए जानेवाले औद्योगिक उत्पादों के लिए है, और उसका मकसद किसानों से बाजारी ताकतों के सामने घुटने टिकवाने का है। हमारे यहाँ भी ऐसी कई 'कृषि-सब्सिडी' हैं जिन्हें वक्त-दर-वक्त सरकारी महकमों से गिनाया जाता है। व्हाया कैम्पेसिना वर्तमान किसान आन्दोलन का समर्थक है। मोर्चे का व्हाया कैम्पेसिना से वैचारिक भाईचारे का नाता है।

इन सब बातों का अर्थ यही है कि बाजारी ताकतें राज्य-व्यवस्था के साथ मिलकर हमेशा कृषि उपज के दामों को नीचे रखने के लिए दबाव बनाकर रखती हैं। इससे कृषि उपज के बारे में आधुनिक बाजारों में विषम लेन-देन कायम किया जा सकता है। किसान के ज्ञान और श्रम की इस लूट पर ही आधुनिक व्यवस्था टिकी है। मतलब यह हुआ कि विषम लेन-देन और किसान समाज, तथा आधुनिक व्यवस्था से बाहर के अन्य सभी समाजों की लूट इस व्यवस्था का स्थायी भाव है। दामों में उत्पादन और डिमांड-सप्लाई से सम्बद्ध कारकों से उत्पन्न हुए तात्कालिक अस्थायी उछाल इस तथ्य को नहीं झुठलाते। जब से उपनिवेश अस्तित्व में आये, वहाँ के लोगों की लूट पर पनपा आधुनिक राजनैतिक-आर्थिक ढांचा कायम हुआ, तब से ऐसे बाजार अस्तित्व में आये जिनका यही चिह्न है। जो काम पहले कमोबेश सीधी लूट-पाट के जरिये किया जाता था, वही काम अब राज्य-व्यवस्था और बाजारी ताकतें मिलकर करती हैं। मुक्त वैश्विक बाजार इसका आधुनिकतम रूप है। वित्तीय पूँजी के मुक्त संचार के अलावा इसमें और कुछ भी मुक्त नहीं है। यह वही व्यवस्था है जिसकी भावी समाज की धारणा में किसानों के लिए बतौर एक कौम कोई स्वायत्त स्थान नहीं है। दरअसल, किसान-समाज को अधिकाधिक मात्रा में बाजार के चक्रव्यूह में लाना उसे एक कौम के रूप में खत्म करने का ज़रिया ही है। आन्दोलन ने वापस

कराये तीन कृषि-कानूनों का ठीक यही मकसद था। अर्थात्, किसान-समाज की हस्ती खत्म हो यह 'इतिहास' का, या बृहत् मनुष्य-समाज की प्रगति का तकाजा नहीं, बल्कि, सरकारी और वैश्विक बाजारी ताकतों की साँठ-गाँठ का उद्देश्य है। संयुक्त किसान मोर्चा ने इन बातों की अपनी साफ पहचान तब दर्शाई, जब उसने यह कहा कि नए कानून 'किसानी और भाईचारे के सर्वनाश' का संकेत हैं।

आधुनिक बाजार में यह होता है कि हर वस्तु, जो हमारे उपयोग के लिए किसी ने पैदा की या बनाई थी, मात्र व्यापार का विषय बनकर रह जाती है। बाजार में होनेवाला हर लेन-देन अपनी स्वाभाविकता खो देता है और कुत्रिम हो जाता है। जब तक उपयोग की वस्तुएँ स्थानीय हाटों में बिकती हैं, यह प्रक्रिया एक सीमा से आगे नहीं बढ़ती। लेकिन किसी वस्तु का सारा लेन-देन वहाँ से दूर जाकर हो जहाँ उनका निर्माण किया गया, तो वह मात्र व्यापार की वस्तु ही रह जाती है, जिसका इस या उस व्यापारी पक्ष से कोई मानवीय सम्बन्ध नहीं बचता।

जब अन्न के साथ यह होता है, जो कि तीन कृषि कानूनों के लागू होने की सूरत में निश्चित होता, तब, जैसा कि आन्दोलन ने स्पष्ट रूप से कहा, 'अन्न तिजोरी में बंद' कर दिया जाता है और 'भूख का व्यापार' होता है। यह नहीं कि आज से पहले यह हुआ ही नहीं, या यह कि आज ऐसा नहीं होता। काफी हद तक होता ही है। लेकिन तीन कानून इस बात को अन्न के विषय में एक स्तर और ऊपर उठाते, जहाँ अपनी उपज से तो किसान आज से भी अधिक दूर हटता ही, खेती क्रिया में भी अपनी बच्ची-खुच्ची स्वायत्तता खो देता। जाहिर है, यह संभावना किसानों के संयम की दृष्टि से ऊंट की पीठ पर का आखरी तिनका साबित हुई। किसान आन्दोलन का और उसके सभी समर्थकों का मानना है कि यह सामाजिक न्याय और भाईचारे को जड़ से नष्ट करने का रास्ता है। किसान चाहता है की उसकी उपज उसके आसपास मंडियों में अच्छे दामों में बिके। 'मंडी यानी एपीएमसी' यह मतलब लगाना शायद गलत होगा। मंडी यानी लेन-देन के वह स्थान जहाँ उन बाजारी ताकतों की घुसपैठ न हो जो बाजारों को किसान की लूट का स्थान बनाने का काम करती हैं। चूँकि, किसान इस विषय में सरकार की गलत भूमिका से भी खूब वाकिफ है, वह सरकार को निश्चित कानूनी बंधन में बांधना चाहता है।

जहाँ एक तरफ सरकार यह कर पाने में अपने आपको अंतर्राष्ट्रीय समझौतों और नियम - कानूनों से बंधी होने के कारण अक्षम बताती है, वहीं इसी प्रकार के नए विनाशकारी समझौतों में बंधने के लिए लालायित भी नज़र आती है। नवम्बर २०२१ में ग्लास्गो, इंग्लॉण्ड में कॉप २६ गोष्ठी में जो प्रणालियाँ और नियम-कानून बनाए गए, उनकी बदौलत जमीन, जंगल, पहाड़, वादियाँ, नदियाँ, दरियाँ, दरिया, झारने, प्रपात, समुद्र, पेड़-पौधे, जीव-जंतु, यानी अपनी संपूर्ण विविधता के साथ समूची धरती माता का बाजारी विनिमय-मूल्य आँकने की, और किसी भी मानव-निर्मित वस्तु की ही तरह उनके लेन-देन की तथा पूँजी-करण की सरल प्रक्रियाएं अस्तित्व में आ रही हैं। प्राकृतिक संसाधनों की अपूर्णीय क्षति करने से हर हाल में बचने के बारे में अपने ज्ञान के बल पर चोटी की संवेदनशीलता संजोते हुए प्रकृति और अन्य समाजों के साथ स्वरस्थ संतुलन बनाकर अपनी निंदगी खुशहाल करते आए समाजों के लिए इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि इन क्रियाओं को पर्यावरण के बचाव के नाम पर अंजाम दिया जा रहा है!

एमएसपी कानून बनाने के रास्ते में मुक्त बाजार में दखलंदाजी की मुश्किलें और भारी वित्तीय जरूरत के रोड़े भी गिनाये जाते हैं। मुक्त बाजार का ढकोसला छोड़ भी दें, लेकिन किसान की आमदनी बढ़े और सुनिश्चित हो इसके लिए जितनी जरूरत कुछ वित्तीय इंतजाम की है, उतनी ही, या शायद उससे अधिक, इस बात की है कि लेन-देन की उन स्थानीय व्यवस्थाओं को ईजाद किया जाए जिनमें स्थानीय समाजों की पहल हो, और जिनमें जिम्मेदारियों और अधिकारों का बंटवारा उन्हीं के द्वारा तय प्राथमिकताओं के साथ एक लय में हो। इसकी भी कि यह किया जा सके इसके लिए आवश्यक कानून बनें। ऐसी व्यवस्थाएं स्थानीय बाजारों को ताकतवर बनाने की दिशा में ही जायेंगी। साथ ही वैश्विक बाजार और कंपनियों के क्रूर अमानवीय तौर-तरीकों से बचाव किसी बड़ी बाहरी ताकत के रहम के रूप में नहीं, बल्कि इन बाजारों के स्वाभाविक गुण और ताकत के रूप में सामने आएगा। बात किसी कमजोर के बचाव की नहीं, बल्कि स्थानीय समाजों की उस अंदरूनी ताकत की है, जिसे वर्षों के सरकारी नीति-करण और बड़ी पूँजी के विशेष अधिकारों ने दबोच कर रखा हुआ है। साथ ही खेती की क्रिया ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में भी किसान समाज पहल और स्वायत्तता की ओर बढ़

सकेगा। इसके लिए जरुरी है कि एमएसपी या किसान की आय के बारे में खुली बहस हो, आज के बाजारों में व्यवस्थागत विषम लेन-देन और बड़ी पूँजी के विशेषाधिकारों पर बड़े सवाल उठाए जाएँ, और उसे टिकाए रखने के वर्तमान तौर तरीकों को खत्म करने के लिए किसानों के परिप्रेक्ष्य से रास्ते ढूँढे जाएं।

आय और लोकविद्या

किसान आन्दोलन के ताकतवर होते जाने के कारणों के बारे में एक आम बात यह सुनने में आती रही कि किसानों को समाज के कई तबकों से समर्थन मिल रहा है, या किसान तमाम गैर-खेतिहारों को भी अपने समर्थन में लाने में सफल हो गए हैं। इसमें खेतिहार मजदूर, आदिवासी, कारीगर समाजों के अलावा शहरों के मजदूर भी शामिल थे। यहाँ तक कि पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और दिल्ली तक के शहरी मध्यम वर्ग के कई लोग आन्दोलन के समर्थक बने। यह सही ही है। इस व्यापक समर्थन के बल पर आन्दोलन शान्ति के साथ मौसम, सरकारी हथकंडे और महामारी सबका सामना करने में सफल हुआ। ये क्यों संभव हुआ? इसका सीधा सरल कारण यह है कि किसानों की कौम भारत के उन सभी समाजों में अगुआ है, जिनके लिए उनकी आय का सवाल लगातार अधिकाधिक गंभीर होता चला गया है। ये समाज वो हैं जो हमेशा ही से अपने ज्ञान और श्रम के बल पर जीते आये हैं, जिनका ज्ञान प्रासंगिक और जीवंत होने के साथ साथ पूरे समाज की धरोहर है और उस समाज के प्रति उत्तरदायी भी। यह ज्ञान हर अर्थ में सामाजिक ज्ञान है। इसकी अपनी गति है जो देश में कितने और कैसे विश्वविद्यालय हैं इससे परिभाषित नहीं होती। न उस ज्ञान का शिक्षा संस्थाओं की किसी डिग्री से कोई वास्ता है। बतौर ज्ञान, जहाँ यह ज्ञान आधुनिक ज्ञान से किसी भी कसौटी पर कम नहीं, वहीं इसकी सामाजिकता और दैनंदिन जीवन में उपयोगिता आधुनिक ज्ञान से कोसों आगे है। इन सभी समाजों का मिला जुला ज्ञान लोकविद्या है और ये समाज लोकविद्याधर समाज हैं। ये जनसंख्या का अस्सी-पिचासी प्रतिशत हिस्सा हैं। आम लोगों की तमाम जरूरतें इन्हीं के उत्पादक और सेवा कार्यों के बल पर पूरी होती हैं, जो उनकी सामाजिक भागीदारी और हिस्सेदारी का मूल आधार हैं। यही उनकी आय का मूल आधार भी बनता है। आय का सवाल मूल रूप से लोकविद्याधर समाज के लोगों की आय का सवाल है।

वर्तमान राज्य-व्यवस्था लोकविद्या के सामाजिक अस्तित्व को पहचानने से कतराती है, और भारत के तमाम समाजों में वितरित ज्ञान को आधुनिक ज्ञान के मुकाबले पिछड़ा मानती है। लेकिन ऐसा करने का मतलब है इन समाजों की आय के मूल सकारात्मक आधार को ही जड़ से नकारना। इस ढूठ के ज़रिये इन समाजों के संसाधनों पर और उनकी आय पर 'विकास' के नाम से कब्जा जमाया जा सकता है। दूसरी तरफ इससे पैदा कृत्रिम गरीबी की सर्वथा झूठी तसवीर खड़ी कर किसान-सम्मान निधि, या मुफ्त या सस्ता अनाज की तरह के तथाकथित कल्याणकारी कार्यक्रम भी चलाये जा सकते हैं। साथ ही हर सामाजिक नीति, जैसे सम्मानजनक जीवनयापन के लिए जरुरी संसाधन, या पानी-बिजली का बँटवारा, स्वास्थ्य-प्रणाली, शिक्षा-प्रणाली ... सभी के मामले में समाज के आधुनिक तबकों की अपेक्षतया इन समाजों के साथ न्याय की अलग कसौटी कायम की जा सकती है। अगर ऐसा नहीं होता तो किसान की पैदावार लागत मूल्यों से कम में कैसे मुहैय्या कराई जा सकती थी? या कारीगर की आय संगठित क्षेत्र में मिलने वाले न्यूनतम वेतन के तिहाई कैसे हो सकती थी? या शहरी पैसेवालों के मनोरंजन के लिए सुन्दरीकरण के नाम से मछुआरों को उनके तालाबों से बेदखल कैसे किया जा सकता था? आज अगर ऐसे सवालों की फ़ेहरिस्त का कोई अंत नज़र नहीं आता, तो यह उन एकतरफा विनाशकारी सरकारी, या कहें व्यवस्थागत, प्राथमिकताओं का असर है जिनका आधार भारत के समाजों में न होकर पश्चिमी देशों की चमक-दमक से अधिक कुछ नहीं है। किसान, आदिवासी, कारीगर सबकी आय सरकारी वेतनों से कम न हो यह कहने का मतलब यह है कि न्याय की कसौटी लोकविद्याधर समाज और संगठित क्षेत्रों के लोगों के लिए अलग-अलग न हो, लोकविद्या और आधुनिक ज्ञान में ऊँच-नीच न हो।

बेरोजगारी और लोकविद्या

व्यवस्थागत प्राथमिकताओं का ही परिणाम है लगातार बढ़ती बेरोजगारी। एक तरह से यह लगातार घटती आय का ही दूसरा रूप है। अगर खेती की आय लगातार घटती है तो उसके बलपर जीवनयापन कर पानेवालों की संख्या घटनी होगी और उनमें से कुछ खेती से विस्थापित होंगे। यही बात कारीगर समाजों को भी लागू होती है। आदिवासी समाजों को भी जो अधिकतर खेती भी करते हैं।

इसके अलावा वन विभाग के कानूनों और भ्रष्टाचार के कारण उन्हें जंगलों की अन्य प्रकार की उपज और जमीनों से भी हाथ धोना पड़ा है। बढ़ती बेरोजगारी का कारण यही प्रक्रियाएं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने ज्ञान और श्रम पर जीनेवाले इन सभी समाजों के लोगों का अपने परम्परागत उत्पादक सामाजिक कार्यों से विस्थापित होना ही बेरोजगारी की जड़ है।

जिस आधुनिकीकरण के नाम से ये प्रक्रियाएं चल रही हैं उसकी यह ताकत नहीं है कि लोकविद्या आधारित कामों से विस्थापित हुए सब आधुनिक जगत में सम्मानजनक काम और स्थान पाएं। सच तो यह है कि आधुनिकीकरण को अंजाम देने के लिए इस हद तक लोकविद्याधर समाजों के ज्ञान और श्रम को लूटने की जरूरत पड़ती है कि जिसके परिणामवश परम्परागत कामों से बेदखल और विस्थापित किये जानेवालों की संख्या आधुनिक क्षेत्र में पैदा किये जा सकनेवाले कुल कामों से कई गुना अधिक होती है। यह वह बंजर जमीन है, जहाँ बढ़ती बेरोजगारी का बबूल मजबूती से जड़ पकड़े और बाकी कुछ न उगे। यही कारण है कि उदारीकरण और वैश्वीकरण, जिन्हें व्यवस्था आधुनिकीकरण और विकास का इंजन मानती है, ने तीन दशकों में ग्रामीण इलाकों में ऐसे लोगों की संख्या लगातार बढ़ाई, जिनके पास करने के लिए कोई काम ही नहीं है।

दरअसल साइंसी व्यवस्था की आधुनिक प्रौद्योगिकी मनुष्य के श्रम का तकलीफदायक हिस्सा ही सिर्फ नहीं घटाती, कि जिसके लिए उसकी अपार सराहना होती आई है, बल्कि मनुष्यों की आवश्यकता ही खत्म करती जाती है। इस तरह की प्रक्रियाएं औद्योगिक प्रौद्योगिकी में पहले भी देखी गई हैं। जैसे, एक ही मिल-मजदूर द्वारा कई लूम एक साथ चलाना। फिर भी कंप्यूटर और सूचना युग की प्रौद्योगिकी की पहुंच गुणात्मक अर्थ में इससे अलग है और उसके परिणाम अधिक दूरगमी भी। लूम चलाने जैसे मात्र नीरस काम ही मशीनें नहीं करेंगी, बल्कि जहाँ बुद्धि से निर्णय लेकर कुछ कार्य होना है, वहाँ भी मशीनों की दखलंदाजी आम होगी। आधुनिक प्रौद्योगिकी के पहले दौर की ही तरह पढ़े-लिखों में इन नए प्रकार की मशीनों का समर्थन करते हुए यह दावा किया जाता रहा है कि इसके प्रसार से जो नया समाज खड़ा होगा उसमें कई नए प्रकार के मौके और काम ईजाद किये जा सकेंगे, जिनके बल पर बेरोजगारी दूर होगी और जीवन-स्तर भी ऊँचा होगा। हम सबने देखा है कि शहरों में किस प्रकार के नए

काम ईंजाद हुए, और ग्रामीण इलाकों से विस्थापित होकर जो लोग शहरों में आकर उन्हें करने लगे थे, उन पर महामारी के काल में क्या बीती। जाहिर है, बेरोजगारी मिटाने और जीवन स्तर ऊँचा करने का यह दावा धोखाधड़ी से भरपूर है। बेरोजगारी का हल देना तो दूर, यह तो कठिनाइयों में कई स्तर जोड़ने का ही काम हो सकता है। भारी बेरोजगारी का कारण बनने के साथ ही यह प्रौद्योगिकी निर्णय-प्रक्रिया और सत्ता के केन्द्रीकरण का सक्षम औजार भी बनती है, और लोकविद्या समाजों की पहल के नाश में नए आयाम जोड़ती है।

दरअसल सच बात तो यह है जिन चीजों के प्रसार को आज आधुनिकता का नाम दिया जाता है, वह बेरोजगारी की समस्या का हल नहीं, बल्कि उसकी जड़ है! इस आधुनिकता का आधार लोकविद्या पर आधारित कार्यों का स्वायत्त ताना-बाना उथेड़ कर उसके बल पर टिके समाजों को लूटने में है। यह रास्ता सबके के लिए सम्मानजनक काम कैसे दे सकता है? बल्कि बेरोजगारी का हल तो यह है कि बेरोजगारी के स्रोत सूख जाएँ। यह तब संभव होगा जब लोकविद्या पर आधारित कार्मों की टूट और बिखराव पर काबू किया जा सकेगा। इन समाज के लोगों की आय सुनिश्चित होगी और इस स्तर की होगी कि वे सम्मान जनक जीवन जी सकें, तभी यह हो सकता है। किसान आन्दोलन में किसानों के साथ खड़े सभी समाजों को यह पहचानना होगा कि एमएसपी की माँग तो आय की माँग है। इस व्यवस्था से उनकी भी यही माँग है।

आय और सामाजिक पुनरुत्थान

चार दशक पूर्व जब कृषि उत्पादों के लिए उचित मूल्य का सवाल किसान आन्दोलन में पहली बार उठा, तब यह चर्चा होती थी की इसके कौनसे अच्छे परिणाम हो सकते हैं। सबकी नज़रों में यह तो साफ़ था कि इससे ग्रामीण इलाकों में खुशहाली का आलम फिर लौट कर आयेगा। खेती में प्रगति होगी। नए नए स्थानीय व्यवसाय खुलेंगे। कृषि उपज पर प्रक्रिया करनेवाली उद्योग इकाइयाँ खड़ी होंगी। वह दौर वैश्वीकरण और संचार-युग की शुरुआत का था, जिसने दुनियाभर में पढ़े-लिखे लोगों और युवाओं को कुछ ऐसे सब्ज-बाज़ दिखाए और कुछ ऐसी राजनैतिक हलचल पैदा की कि जिसमें सभी प्रकार के जन-आन्दोलन और संघर्ष क्षीण होते गए। किसान आन्दोलन भी कुछ ठहराव की स्थिति में आ गया। वर्तमान किसान आन्दोलन पिछले तीन दशकों के

मायाजाल को पहचान कर फिर खड़ा हुआ है। इन स्थितियों में किसानों की आय बढ़ने के मतलब पर पुनः व्यापक संवाद हो यह जरुरी है।

पहली बात तो यह है कि इस व्यवस्था के बाहक 'किसान की आय में बढ़ोत्तरी' से जो कुछ समझते हैं वह किसानों की समझ से एकदम भिन्न है। यह साफ हो चुका है कि व्यवस्था के लिए आय बढ़ने का मतलब कुछ किसानों को वैश्विक बाजार से जोड़ने से है, जो यह सरकार तीन कानूनों के जरिये करना चाहती थी। जब कि किसान जानते हैं कि यह तो दरिया में झूबने का जरिया है। एक समाज के नाते वे इस बाजार को, और इसके पुराने औपनिवेशिक संस्करणों को खूब जानते हैं; और 'मुक्त स्पर्धा' के छलावे को भी। किसान के लिए 'सम्मानजनक आय' वह है जो गाँवों में खुशहाली का पैगाम तो लाएगी ही, लेकिन इससे आगे वह भी है जिसके बल पर किसान अपने टूट की कगार पर खड़े संसाधनों को व्यवस्थित करने में लग सकेगा। इस बात की भी स्पष्ट संभावना है कि जो लोग गाँवों से विस्थापित होकर काम की तलाश में शहरों में आये थे वे वापस लौटें। अगर उनके अपने परिवित उत्पादक कार्यों में आय बढ़ती है, तो कोई कारण नहीं कि यह नहीं हो सकता। गाँवों से शहरों में विस्थापित मजदूरों का महामारी का अनुभव यहीं इंगित करता है। अगर खेती में उचित आय होती तो क्या गाँव लौटनेवाले फिर से शहर का रास्ता पकड़ते?

शहरों के नौकरीपेशा लोगों का वेतन बढ़ने से व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुओं की माँग बढ़ती है। इस बढ़ोत्तरी में भारी मात्रा में इन वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले बड़ी पूँजी के मालिकों की रुचि अधिक है। खेती में सम्मानजनक आय का परिणाम यहीं होगा, यह बिलकुल जरुरी नहीं। एक अहम नतीजा यह हो सकता है कि यह आय समाज में वितरित पूँजी का काम करे और अन्य कई नए किस्म के उत्पादक और सामाजिक कार्यों में लगाई जाय जो स्थानीय व्यवस्थाओं की मजबूती का आधार बनें, आज की स्थिति में उथड़ा हुआ ताना-बाना फिर बुना जा सके।



लोकविद्या समाज : आजीविका और आमदनी

कृष्णराजुल

लोकविद्या समाज के लोग अपने ज्ञान के अनुसार जीवनयापन करते हैं। अपने ज्ञान के आधार पर सामाजिक कर्तव्य निभाने की बात उन्होंने सन्त परम्परा से पायी है। ज्ञान-ज्ञान में ऊँच-नीच करने की बात उठती ही नहीं है। आमदनी का मतलब यह है कि अपनी आजीविका से एक व्यक्ति को कम से कम उतना मिलता रहे जितना कि परिवार के साधारण जीवन के लिए ज़रूरी है। लोकविद्याधरों के लिए यह न हो पाने का मूल कारण यह है कि आधुनिक समाज ने ज्ञान के क्षेत्र में ऊँच-नीच कायम कर दी है। किसान आंदोलन ने सभी फसलों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य की कानूनन गारंटी की जो मांग उठाई है, वह इस यह स्थिति खत्म करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

लोकविद्या और लोकविद्या समाज

भारतीय समाज दो हिस्सों में बंट चुका है। एक हिस्सा शिक्षित समाज के नाम से जाना जाता है, और दूसरा हिस्सा वह है जिसे शिक्षित समाज ‘अनपढ़ या अंगूठा छाप’ कहते हैं। शिक्षित समाज उन लोगों से गठित है, जो स्कूल कालेज गए हैं, वहां से प्राप्त संस्थागत ज्ञान के आधार पर नौकरी पेशा करते हैं और अपना जीवन चलाते हैं। उनका जीवनयापन और आजीविका संस्थागत ज्ञान पर आधारित है।

दूसरा हिस्सा, जिसे शिक्षित लोग अनपढ़ या अंगूठा छाप के नाम से पुकारते हैं, उसमें अधिकांश लोग खेती, बुनकरी, छोटा व्यापार, छोटे धंधे, घर का काम आदि से जीवनयापन करते हैं। आदिवासी समाज और महिला समाज भी इनमें शामिल हैं। इनमें बहुत सारे लोग अपने पेशासूचक जातिगत नामों से जाने जाते हैं। उनमें बहुत सारे कभी स्कूल या कालेज नहीं गए होते, और पढ़ना लिखना नहीं जानते, यानि वे सचमुच अंगूठा छाप हैं। मगर, ये सब लोग अपना जीवनयापन और आजीविका अपने समाज से हासिल हुए ज्ञान के आधार पर करते हैं। यह ज्ञान किसी स्कूल-कालेज में नहीं मिलता। इसे अनपढ़ अंगूठा छाप लोग अपने-अपने घरवालों, बुजुर्गों या बिरादरी के लोगों के साथ काम

करत हुए सीख लेते हैं। इस ज्ञान को हम लोकविद्या कहते हैं क्योंकि यह विद्या/ज्ञान समाज में निहित है। इसी लोकविद्या के आधार पर ये लोग अपना जीवनयापन करते हैं। हम इन लोगों को लोकविद्याधर कहेंगे। इनका समाज ‘लोकविद्या समाज’ के नाम से पुकारा जाना चाहिए, न कि ‘अंगूठा छाप’ नाम से!

लोकविद्या और जीवनयापन

लोकविद्या समाज के लोग अपने ज्ञान के अनुसार अपना जीवनयापन करते हैं। जैसे घर में महिलाएं घर का कामकाज, खानपान, बच्चों का देखभाल, सफाई, आदि कार्य अपने आप कर लेती हैं। उन्हें इन कार्यों का प्रशिक्षण या शिक्षा घर के बुजुर्गों से मिलती है। वैसे ही, खेत में काम करनेवाले किसान, खेतिहार मजदूर, कुल्हड़ बनानेवाले कुम्हार, चप्पल बनाने वाले मोची, गहने बनाने वाले सोनार, छोटे मंदिर के पुजारी, छोटे व्यापारी, पूरा आदिवासी समाज ये सब अपना जीवनयापन अपने-अपने उस ज्ञान के बल पर करते हैं, जिसे वे अपने घर के बुजुर्गों या बिरादरी के बुजुर्गों से प्राप्त करते हैं। यानि, ये लोग अनपढ़ हो सकते हैं और हैं भी, मगर ये ज्ञानवान हैं। देश में सदियों से ये लोग अपना जीवनयापन करते आये हैं, और अपने तथा अपने परिवार के जीवन की जरूरतें पूरी करते आये हैं, और साथ में समाज के लिए भी अपना उत्पादन या सेवाकार्य उपलब्ध कराते आये हैं। यानि, उनका उत्पादन या सेवा केवल उनके अपने लिए नहीं है, वह समाज के लिए भी है। किसान अपने खेत में अनाज, सब्जी या फल अपने घर के लिए ही नहीं, अपने समाज के लिए भी करता है। न कि किन्हीं दूरस्थ लोगों या बाजार के लिए। वह लाभ की लालसा से प्रेरित होकर ही उत्पादन नहीं करता है, उसे समाज की चिंता भी रहती है। यही मोची, कुम्हार, धोबी आदि भी करते हैं। ये सारे अनपढ़ लोग लोकविद्या के बल पर समाज की सेवा करते हैं।

इस तरह से अपने उत्पादन या सेवा-कार्य को सामाजिक कर्तव्य (त्याग, social obligation) के रूप में देखना, यह लोकविद्या धर्म का एक मुख्य सूत्र है। अपने ज्ञान के अनुसार और उसके आधार पर सामाजिक कर्तव्य निभाना (bread labour), यह बात हमने सन्त परम्परा से पायी है। ज्ञान-ज्ञान में प्रतिष्ठा/महत्व के आधार पर अंतर (knowledge hierarchy) करने की बात उठती ही नहीं है। पृथक-पृथक समाजों के ज्ञान को समान दर्जा देना लोकविद्या

का आधार (foundation) है और ज्ञान-ज्ञान के बीच भेदभाव करना (hierarchy) लोकविद्या धर्म के अनुसार एक पाप है।

जीवनयापन और आमदनी

अब से करीब २०० साल पहले 'नौकरी' की बात शायद होती ही नहीं थी। (नौकरी का मतलब, ऐसा काम जिसके ज़रिए आप अपना जीवनयापन कर सकते हैं और जिसे करने से मिलनेवाले पैसे को आप अपनी 'आमदनी' मानते हैं।) तब शायद अपने बच्चे भविष्य में क्या नौकरी करेंगे इस बारे में कोई नहीं सोचता था, क्योंकि उसे यह पता था कि बच्चे विरासत में मिले अपने ज्ञान के आधार पर अपना जीवनयापन करेंगे।

उदाहरण के लिये, लड़कियाँ घर का काम सब अपनी माँ से सीखती थीं; बड़ी होकर शादी के बाद अपने ससुराल जातीं थीं। वे अपने मायके में जीवनयापन हेतु आवश्यक कार्य भी सीखती थीं और शादी के बाद ससुराल में उन कार्यों में सहायता भी करती थीं।

तो आमदनी का क्या मतलब निकलता है? आमदनी का मतलब यह निकलता है कि अपनी आजीविका से एक व्यक्ति को कम से कम उतनी आमदनी मिलती है जितनी परिवार के साधारण जीवन के लिए ज़रूरी हैं। एक साधारण मेहनतकश व्यक्ति (average working person) को अपनी आजीविका से अपना साधारण जीवन गौरव के साथ जीने की गारंटी मिलनी चाहिए। यह लोकविद्या धर्म का दूसरा सत्र है। परम्परागत समाज में एक साधारण व्यक्ति अपना जीवन गौरव के साथ जी सके, इसकी व्यवस्था थी। सामाजिक स्तर पर जो भेदभाव और अन्याय थे, उनका कारण आर्थिक नहीं, बल्कि भावनात्मक था। उसे हम नज़र अंदाज़ करना नहीं चाहते हैं, मगर, इतिहास बताता है कि जहां तक आजीविका और आमदनी की बात थी, एक मेहनतकश व्यक्ति को गौरव से जीने का हक (life of dignity) हर समय उपलब्ध था।

अंग्रेजों ने करीब २०० वर्ष पहले एक नई शिक्षा प्रणाली शुरू की। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा दी गयी। यह शिक्षा स्कूल व कॉलेजों के माध्यम से दी गयी और उन्होंने इनकी स्थापना करने के लिए बहुत पैसे खर्च किये। इस शिक्षा का मूल उद्देश्य सरकार चलाने के लिए नौकरशाही, और कारखाने और रेलवे में काम करने के लिए औद्योगिक मज़दूर तैयार करना था। अंग्रेजों ने देश

में पहली बार ‘नौकरी’ की बात उठायी थी। जिन लोगों ने इन शिक्षा संस्थाओं में पढ़कर ‘डिग्री’ या ‘सर्टिफिकेट’ प्राप्त किये, वो सरकार के लिए काम करने योग्य माने गये। उसे एक सम्मानजनक जिंदगी जीने लायक न्यूनतम वेतन (minimum guaranteed salary) देने का वादा किया गया। समय बीतने के साथ लोग अपनी परम्परागत आजीविका या धंधा छोड़कर स्कूल कालेज में शिक्षा याने डिग्री/सर्टिफिकेट हासिल कर सरकारी नौकरी पाने की होड़ में लग गए, क्योंकि सरकारी नौकरी से सम्मानजनक जिंदगी जीने लायक स्थायी न्यूनतम आय मिलती थी।

मगर लोकविद्या पर आश्रित लोकविद्याधर के पास ऐसी कोई भी न्यूनतम आमदनी की गारंटी नहीं है। एक सम्मानजनक जीवन जीना उनके लिए बहुत कठिन हो गया है। स्थिति यहाँ तक पहुंच गई है कि एक मेहनती लोकविद्याधर अपने धंधे से प्राप्त आमदनी से सम्मानजनक जीवन जी नहीं पाता है। अब अन्नदाता किसान के सामने भूखों मरने की नौबत आ गयी है। असंख्य कारीगर आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो चुके हैं।

संस्थागत विद्या और लोकविद्या

अंग्रेजों ने जो शिक्षा-प्रणाली स्थापित की, उसमें ज्ञान के हर क्षेत्र की शिक्षा/प्रशिक्षण दिया जाता है। दफ्तर का काम, कोर्ट कच्छरी का काम, कानून, विज्ञान और टेक्नोलोजी, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि इसमें शामिल हैं। आधुनिक अर्थव्यवस्था को संचलित करने में इस शिक्षा से बहुत मदद मिलती है। जिस व्यक्ति को इस आधुनिक व्यवस्था में नौकरी प्राप्त करनी है, उसे इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। इस संस्थागत विद्या का बहुत विकास हुआ है और दुनिया भर में बहुत लोग संस्थागत शिक्षा प्राप्त करने के बाद अंग्रेजों द्वारा स्थापित व्यवस्था के अंग बन चुके हैं। ऐसे लोगों को काम के बदले वेतन (आमदनी की गारंटी) मिलता है। इस आमदनी से वे लोग अपना जीवन गौरव के साथ जीते हैं।

आज अनेक लोकविद्याधर भी इस संस्थागत विद्या से उपजी नयी टेक्नोलोजी का ज्ञान हासिल करते हैं। जैसे, बिजली के इस्तेमाल से मोटर-पम्प और अन्य संयंत्र चलाना और उनकी मरम्मत करना, कार या ट्रैक्टर चलाना, रसायनिक खाद व कीटनाशक का प्रयोग करना, आदि। इस प्रकार संस्थागत ज्ञान का कुछ अंश समाहित होने से लोकविद्या का काफी संवर्धन

हुआ है। और लोकविद्याधर ने अपने उत्पादन या सेवा कार्य का दायरा और फैलाया है। मगर समय के चलते आधुनिक अर्थव्यवस्था परंपरागत समाज और उसके क्रियाकलापों पर हावी हो गयी। फलस्वरूप लोकविद्याधर आधुनिक अर्थव्यवस्था में शोषण का शिकार हो गया।

यह कैसे और क्यों हुआ? यह माना जाता है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था (modern economy) के अंतर्गत काम करनेवालों को एक वाजिब आमदनी मिलनी चाहिए और काफी हृद तक मिली भी है। अगर वेतन या आमदनी में कुछ कमी हो जाती है, तो मज़दूर या कर्मचारी यूनियन वाजिब वेतन कि मांग लेकर हड़ताल करता है और बढ़ा हुआ वेतन हासिल भी कर लेता है। फिलहाल हम मान लेते हैं कि जो न्यूनतम वेतन (minimum wage/salary) सरकार तय करती है, वो आमदनी एक गैरवमय जीवन जीने के लिए पर्याप्त न्यायपूर्ण आमदनी है। लेकिन लोकविद्याधर की आमदनी इसके लिये पर्याप्त नहीं है।

ज्ञान की बराबरी

इसका मूल कारण यह है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था का संचालन करनेवाली संस्थाएं और लोग लोकविद्या को संस्थागत विद्या से कम या निचले दर्जे (inferior or inadequate) का समझते हैं। ज्ञान की बराबरी खत्म हो गयी। जिस तरह समाज में लोगों को ऊँचे-नीचे दर्जे दिए जाते हैं, उसी प्रकार लोकविद्या को संस्थागत शिक्षा/ज्ञान से कम दर्जा दिया जाता है। आमदनी में गैरबराबरी ज्ञान के गैरबराबरी पर आधारित हैं। अगर लोकविद्याधर को भी एक न्यायपूर्ण आमदनी मिलनी है तो हमें ज्ञान की गैरबराबरी की व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठानी होगी और यह मांग करनी होगी कि लोकविद्या को वही दर्जा मिले जो संस्थागत ज्ञान को मिलता है। साथ साथ हमें यह मांग उठाना होगा कि हर मेहनतकश व्यक्ति को एक न्यूनतम (सरकारी वेतन के समकक्ष) आमदनी मिलनी चाहिए।

यह कोई नई या अजीब मांग नहीं है। अपने देश में समान काम समान वेतन को कानूनी मान्यता दी गयी है। पर वास्तव में समान (ज्ञान का) काम करनेवालों की आमदनी भिन्न भिन्न होती है। और भिन्न भिन्न (ज्ञान का) काम करनेवालों की आमदनी समान होती हैं। उदाहरण के लिए फौज में एक ही दर्जे के फौजी अनेक किस्म के काम करते हैं, मगर एक ओहदे (one rank) के सिपाहियों को एक ही आमदनी मिलती है। इसके उल्टे निजी क्षेत्र में काम

करनेवाले डाक्टर, मैनेजर आदि की आमदनी सरकारी डाक्टर या मैनेजर की आमदनी से ज्यादा होती है। यदि हम लोकविद्याधर को निजी क्षत्र में कार्यरत व्यक्ति मानते हैं तो उनकी आमदनी सरकारी कर्मचारियों की आमदनी से कम नहीं होनी चाहिए। अतः न्यूनतम आमदनी की मांग एक न्यायपूर्ण मांग है। और यह मांग ज्ञान के बराबरी के मांग से जुड़ी है। लोकविद्या और संस्थागत विद्या में फर्क है, मगर यह फर्क गैरबराबरी में परिणत नहीं होना चाहिए! अब समय आ गया है कि हम ज्ञान की बराबरी हेतु आन्दोलन चलाएं। इसकी शुरुआत तब होगी जब हम सब मिलकर लोकविद्या के लिए संस्थागत ज्ञान की बराबरी का दावा पेश करेंगे। किसान आन्दोलन ने सभी फसलों के लिये न्यूनतम समर्थन मूल्य की कानूनन गारंटी की जो मांग उठाई है, वह इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।



लोकविद्या जन आन्दोलन

किसान, कारीगर, आदिवासी, लोक-कलाकार,
महिलाएं व ठेला-पटरी-गुमटी के दुकानदार,
और सेवा मरम्मत करने वाले सभी परिवार,
ये सब हैं लोकविद्या के ज्ञानी और जानकार।

जब माना जायेगा लोकविद्या को भी ज्ञान,
और मिलेगा पढ़े-लिखे लोगों के ज्ञान-सा सम्मान,
जब होगी इनकी आमदनी भी सरकारी कर्मचारी-सी,
तभी मिलेगी इस मुल्क को सच्ची आज्ञादी।

पूंजीवादी बाजार बनाम स्थानीय बाजार

कृष्ण गांधी

पूंजीवादी बाजारों ने असमान विनियम उपनिवेशों पर थोपा और पूँजी-संचय का मार्ग प्रशस्त किया। हस्त शिल्प और कारीगरी के काम नष्ट हो गए। किसान-बहुल लोकविद्या समाज के सामने सबसे बड़ी चुनौती वैश्विक बाजार को एक ऐसा नया आधार देने की है जिससे भेदभावपूर्ण और शोषणकारी असमान विनियम से वह मुक्त हों। वैश्विक बाजार के इस पुनर्रचना के दो पहलू हैं: बाजार में इजारेदार पूंजीपतियों से प्रभावित राष्ट्रीय सरकारों का दखल समाप्त करना, और पूंजीवादी बाजार में निहित mass production के प्रति पक्षपात की प्रवृत्ति से उसे मुक्त करना जिससे परिवार आधारित production by masses के हित में बाजार कार्य करें। पूरे विश्व में फैले लोकविद्या समाजों के संयुक्त प्रयास से ही यह संभव है।

उत्पादन एवं सेवाओं के आदान प्रदान के कार्य बाजारों के माध्यम से होते हैं। मानव इतिहास में बाजार का आविष्कार शुरू में ही हुआ होगा। बाजारों का विकास क्रमबद्ध तरीके से नहीं हुआ। लगभग दस हजार वर्ष पूर्व कृषि क्रांति (कृषि का आविष्कार) हुआ ऐसा माना जाता है। कृषि उत्पादन बेचने और जीवनावश्यक वस्तुएं खरीदने का कार्य सुचारू रूप से करने हेतु कई गाँवों के बीच बाजार कस्बों और शहरों के रूप में विकसित हुआ। यूरोपीय देशों द्वारा शेष दुनिया का औपनिवेशीकरण पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में शुरू हुआ था। उपनिवेशों की लूट से प्राप्त धन से यूरोपीय देशों में विशेष कर इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति हुई। इस औद्योगिक क्रांति ने यूरोप में पूंजीवाद को जन्म दिया। तबसे बाजारों के कार्य और स्वरूप में गुणात्मक परिवर्तन आया। उपनिवेशों से कच्चे माल सस्ती दरों में निष्कर्षण (extraction) कर उसे तैयार माल में अपने देश में रूपांतरित करना और उस तैयार माल को महंगे दरों में वापस उपनिवेशों में बेचना, यह असमान विनियम उपनिवेशों पर थोपा गया। यहीं पूँजी संचयन का मार्ग बना। साथ साथ उपनिवेशों के परम्परागत उद्योग कुचल दिए गए। सैनिक बल का प्रयोग कर ऐसी बाजार व्यवस्था उपनिवेशों पर थोपी गयी थी। इस प्रकार पूंजीवाद ने बाजार विनियम को हमेशा के लिए असमान कर दिया।

विकेन्द्रीकृत एवं परिवार-आधारित उत्पादन करने वाले समाजों में किसान समाज सबसे बड़ा है। किसान समाज के आलावा कारीगर समाज, महिला समाज, आदिवासी समाज और असंगठित क्षेत्र के छोटे उद्यमी और व्यापारी इस विकेन्द्रित उत्पादन व्यवस्था के अंग हैं। विरासत में पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त एवं स्वयं अर्जित विद्या के बल पर वे सारे समाज अपना जीवनयापन करते हैं। उन्होंने अपना ज्ञान कॉलेज विश्वविद्यालय से किताबें पढ़कर प्राप्त नहीं किया है। इसलिए हम ने उनकी विद्या को 'लोकविद्या' का नाम दिया और उन सारे उत्पादन और सेवा कार्य से जीवनयापन करने वाले लोगों को 'लोकविद्या समाज' नाम दिया। जब से असमान विनिमय पर आधारित पूँजीवादी बाजार अस्तित्व में आए, तब से लोकविद्या समाज संख्या एवं ताकत दोनों दृष्टि से अपना अस्तित्व खो रहा है। हस्तनिर्मित कपड़ा, कृषि उपकरण, चमड़े से तैयार जूता चप्पल, मिट्टी के बर्टन, अन्य हस्त शिल्प और कारीगरी का काम सब नष्ट हो गए। ऐसा नहीं कि यह प्रक्रिया हमारे देश के आज्ञाद होने के बाद थम गयी हो, उलटे उसकी रफ़तार और तेज हो गयी है। स्वाधीनता संग्राम के दौरान चरखा और खादी को केंद्र में रखकर विकेन्द्रित परिवार-आधारित उद्योगों की पुनर्स्थापना हेतु स्वदेशी आंदोलन चलाया गया था। उस समय लग रहा था कि पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के विकल्प के रूप में स्वदेशी विकेन्द्रित उत्पादन विकसित होगा। लेकिन आज खादी एक सरकारी उपक्रम मात्र रह गयी है। खेती ही ऐसा धंधा रह गया है जिसमें विकेन्द्रित परिवार-आधारित उत्पादन आज भी बड़े पैमाने पर होता है। भारत के आलावा चीन समेत एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका के कई देशों में विकेन्द्रित परिवार-आधारित खेती बड़े पैमाने पर हो रही है। इसके विपरीत अमेरिका यूरोप समेत विकसित देशों में परिवार आधारित खेती करनेवाले लोगों की संख्या न के बराबर रह गयी है। वहां कृषि एक संगठित उद्योग के रूप में की जा रही है। पर, चाहे विकसित देश हो या अविकसित देश, सभी जगह खेती असमान अन्यायपूर्ण विनिमय पर आधारित पूँजीवादी बाजार के शोषण की शिकार बन चुकी है।

महात्मा गांधी ने इन श्रमबहुल विकेन्द्रित परिवार-आधारित उत्पादन व्यवस्था को "production by the masses" (अवाम द्वारा उत्पादन) का नाम दिया। इसके विपरीत पूँजी-बहुल केंद्रित फैक्टरी उत्पादन व्यवस्था को उन्होंने "mass production" (बड़े पैमाने पर उत्पादन) की संज्ञा दी। उनके अनुसार मानव समाज की खुशहाली production by the masses के मार्ग से ही संभव

है। लेकिन सवाल यह है कि क्या “production by the masses” असमान विनिमय आधारित पूंजीवादी बाजार के माध्यम से संभव होगा? इस पर दो राय हैं- १) स्वदेशी सिद्धांत पर आधारित स्थानीय बाजार ही ‘production by the masses’ के मार्ग पर समाज को ले जा पायेगा, और २) परिवर्तित (राष्ट्रीय सरकारों के हस्तक्षेप से मुक्त) विश्व बाजार में भी परिवार आधारित उत्पादन व्यवस्थाओं को उचित स्थान प्राप्त हो सकेगा।

स्वदेशी सिद्धांत पर आधारित स्थानीय बाजार

Production by the masses की नीति को मूर्त रूप देने के लिए स्वदेशी सिद्धांत पर आधारित स्थानीय बाजारों की श्रृंखला गाँवों कस्बों और शहरों में तैयार करनी होगी। देश के गाँवों और कस्बों में आज भी परंपरागत रूप से चले आ रहे सासाहिक, अर्ध-सासाहिक हाट चलते हैं। कई गाँव और कस्बों में ये चलना बंद हो गए हैं। लेकिन ये पुनर्जीवित किये जा सकते हैं। इन हाटों या सासाहिक/अर्द्ध-सासाहिक बाजारों को विधिवत रूप से चलाने का मुहीम या आनंदोलन चलाया जाना चाहिए। इस प्रकार पूरे देश में स्थानीय बाजारों की श्रृंखला खड़ी की जा सकती है। लेकिन इन स्थानीय बाजारों की कार्यप्रणाली, नियम और कायदे आधुनिक पूंजीवादी बाजार की कार्यप्रणाली से भिन्न रखने होंगे। इन स्थानीय बाजारों में फैक्टरी निर्मित उत्पादनों का क्रय विक्रय प्रतिबंधित करना होगा। अन्यथा पूंजीवादी बाजार और स्थानीय स्वदेशी बाजार में कोई अंतर नहीं रह जायेगा। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय बाजार चलाने की जिम्मेदारी ग्राम पंचायत या लोकविद्या समाज के संगठनों को दी जानी चाहिए। जीएसटी के आने के बाद पूरा देश एक बाजार बन गया है और इसका लाभ पूंजीपति वर्ग विशेषकर इजारेदार पूंजीपति सबसे ज्यादा उठा रहे हैं। अतः इन स्थानीय बाजारों को जीएसटी की व्यवस्था के बाहर रखना होगा। अर्थात्, स्थानीय बाजार में मैं जिन वस्तुओं और सेवाओं का क्रय विक्रय होगा, उस पर कोई कर न केंद्र और न ही राज्य वसूल सकेंगे। स्थानीय बाजार में कर वसूलने का अधिकार मात्र ग्राम पंचायत को ही प्राप्त होगा। कुछ विशेष परिस्थितियों में स्थानीय बाजार में फैक्टरी निर्मित वस्तु जैसे जीवन रक्षक औषधियां और उपकरण या अन्य जिनका उत्पादन लोकविद्या समाज द्वारा न किया जाता हो, के क्रय विक्रय की अनुमति दी जा सकती है। इन फैक्टरी निर्मित वस्तुओं पर कर लगाने का अधिकार भी ग्राम पंचायतों को मिलना चाहिए।

यहां यह कहना उचित होगा कि जिस प्रकार स्मार्ट फोन आधारित इ-कॉमर्स का जाल गाँव गाँव तक पहुँच गया है, उसे देखते हुए, स्वदेशी की परिभाषा में बदलाव भी लाने की ज़रूरत पड़ सकती है। इस कारण स्वदेशी को भौगोलिक निकटता के साथ आवश्यक रूपसे जोड़ने की जिद यथार्थवादी नहीं होगी।

बाजारों के साथ एकत्रीकरण और संचयन की प्रवृत्ति अभिन्न रूप से जुड़ी है। वस्तु, सेवा, पूँजी, श्रम सबका बाजार में एकत्रीकरण होता है और फिर उनका क्रय विक्रय होता है। जैसा जैसा बाजार का आकार बड़ा होता जाता है, उसी अनुपात में एकत्रीकरण और संचयन का पैमाना भी बढ़ता जाता है। और इसका दुष्परिणाम यह होता है कि जितना बड़ा बाजार उतना ही ज्यादा वस्तु, सेवा, पूँजी, श्रम का अवमूल्यन और अनुपयोग (अपूर्ण उपयोग) की स्थिति पैदा होती है। स्थानीय बाजार की प्रारंभिकता इस कारण भी बढ़ जाती है।

जिस प्रकार चरखा और खादी को केंद्र में रख कर स्वदेशी आंदोलन स्वतंत्रता पूर्व चलाया गया था, उसी प्रकार स्थानीय बाजार को लेकर एक रचनात्मक आंदोलन चलाने की आज सर्वत ज़रूरत है। लोकविद्या समाज का भविष्य और खुशहाली स्थानीय बाजार से अभिन्न रूप से जुड़ा है।

उत्पादक संगठन (Producer organisation)

गत वर्ष भारत सरकार ने अगले ५ वर्षों में (२०२७ तक) दस हजार किसान उत्पादक संगठन (एफपीओ)/कंपनियां (एफपीसी) (Farmer Producer Organisations - FPOs / Farmer Producer Companies - FPCs) स्थापित करने की योजना तैयार की है। दुग्ध उत्पादन के क्षेत्र में अमूल कोआपरेटिव की सफलता से प्रेरित होकर सन २००२ में उत्पादक संगठन/कंपनी के संबंध में नियम तैयार किये गए थे, जिसे २०१३ में और व्यापक रूप दिया गया था। निजी कंपनी जैसा दर्जा किसान जैसे उत्पादकों के संगठन को देने हेतु यह कानून लाया गया था। यह महसूस किया गया था कि व्यक्तिगत रूप से किसान या कारीगर पूँजीवादी बाजार में अपना उत्पादन की मार्केटिंग करने में असमर्थ हैं। इसलिए निजी कंपनियों के तर्ज पर किसानों और कारीगरों का उत्पादक संगठन तैयार करने पर अपने उत्पादन का वे सफल मार्केटिंग कर पाएंगे। इन उत्पादक संगठनों का प्रबंधन कार्य पढ़े लिखे मैनेजमेंट डिग्रीधारी के माध्यम से किया जायेगा और ऐसे प्रबंधक या अन्य विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त करने में जो खर्च

उत्पादक संगठन को उठाना पड़ेगा वह प्रथम तीन वर्षों के लिए केंद्र सरकार अनुदान के रूप में मुहैया कराएगी। आज सैकड़ों किसान उत्पादक संगठन और कम्पनियाँ काम कर रही हैं। इनमें नासिक स्थित सह्याद्रि फार्मस नाम का उत्पादक संगठन बहुत सफल कार्य कर रहा है। यह उत्पादक संगठन अंगूर (tabletop grapes), फल और सब्जी बड़ी मात्रा में यूरोप और अन्य पश्चिमी देशों को निर्यात कर रहा है।

उत्पादक संगठन की परिकल्पना का मूल में यह सोच है कि पूँजीवादी बाजार में असंगठित क्षेत्र के छोटे उत्पादक व्यक्तिगत रूप से स्पर्धा करने में असमर्थ हैं, इसलिए उन्हें कंपनी के रूप में संगठित करना होगा जिससे वे बाजार में स्पर्धा कर सकें। अर्थात्, आज के विश्वव्यापी बाजार में स्पर्धा करने के लिए असंगठित छोटे उत्पादकों को पूँजीवादी तौर तरीकों को अपनाना होगा। ऐसा नहीं कि केवल भारत में ही उत्पादक संगठनों/कंपनियों को प्रोत्साहित किया जा रहा है; दुनिया के अविकसित, विकासशील और विकसित देशों में भी किसानों के उत्पादक संगठन खड़े किये जा रहे हैं। लोकविद्या समाज को पूँजीवादी बाजार में एक निश्चित स्थान देकर उसका अंग बनाने के प्रयास के रूप में भी हम उत्पादक संगठनों/कंपनियों को देख सकते हैं। कॉर्पोरेट पब्लिक लिमिटेड कंपनियों की तरह इन उत्पादक संगठनों का स्वामित्व उनके शेयर धारकों के हाथ में रहेगा। वर्तमान में एफपीओ/एफपीसी में किसान शेयर धारकों की संख्या सैकड़ों से लेकर हजारों तक हो सकती हैं।

जहाँ तक किसान उत्पादक संगठनों का सवाल है, उनके सामने मुख्य चुनौतियाँ इस प्रकार हैं -

१. भले ही शेयर धारक किसान की निजी भूमि का मूल्य एफपीओ की निवेशित पूँजी की गणना में लिया जाता हो, लेकिन रोज़मर्रे के व्यापारिक कार्य पूरा करने के लिए आवश्यक वर्किंग कैपिटल एक बड़ी समस्या है जो शुरू के वर्षों में ज़्यादा विकट हो जाती है। बैंक से ऋण नहीं मिल पाता है। अतः शुरू के वर्षों में अधिकतर FPO के कार्य वर्किंग कैपिटल के अभाव में बुरी तरह प्रभावित होता है। काफी FPO निष्क्रिय हो जाते हैं या बंद होते हैं।
२. एफपीओ से अन्य निजी क्षेत्र की कंपनियों की तरह सरकार द्वारा कर वसूला जाता है। जीएसटी भी एफपीओ पर लागू है, जबकि GST के

- अंतर्गत साल में कई बार कारोबार की रिपोर्ट जमा करने की आवश्यकता होती है, जो शेयर धारक किसानों की क्षमता के बाहर है।
३. कॉर्पोरेट जगत की निजी कंपनियों की तुलना में FPO के पास प्रबंधन में नियुण अधिकारियों की बड़ी कमी रहती है। अतः प्रबंधन के लिए बाहर से नियुक्ति करने की ज़रूरत होती है।
 ४. एपीएमसी मंडियों में और मंडियों के बाहर कृषि उत्पादन बेचने की छूट FPO को प्राप्त नहीं है। निर्यात करने में भी बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आवश्यक वास्तु अधिनियम के प्रावधानों से भी FPO को मुक्त करने की ज़रूरत है।
 ५. एफपीओ कृषि उत्पादन कच्चा माल के रूप में बेचने से किसान शेयर धारकों को कोई लाभ नहीं पहुँचा पाएंगे। अतः मूल्य-वर्धन (value addition) करने हेतु प्रसंस्करण इकाइयां खड़ी करनी होंगी जिसके लिए भी पूँजी की आवश्यकता होती है। आम किसान शेयर धारक के पास प्रसंस्करण संयंत्र आदि में निवेश करने के लिए पूँजी का अभाव है। बैंकों से सस्ती दर पर लोन सुलभ किये बगैर एफपीओ मूल्य-वर्धन का कार्य करने में असमर्थ होंगे।

समापन

भावी आदर्श बाजार की कोई भी कल्पना वैश्वीकरण के पहलू से पृथक रहकर नहीं की जा सकती है। आज राष्ट्र या राष्ट्रीय सत्ता चंद इज़ारेदार पूँजीपतियों के हाथों सिमटती जा रही है। अपने देश में इस प्रक्रिया ने पिछले कुछ वर्षों में बहुत तेज गति पकड़ ली है। दुनिया भर के विकसित एवं अविकसित देशों में भी कमोवेश यहीं प्रक्रिया जारी है। राष्ट्रीय सरकारें इज़ारेदार पूँजीपतियों के हाथ कठपुतली बन चुकी हैं। यारी-पूँजीवाद (क्रोनी कैपिटलिज्म) का बोलबाला है। ऐसे में राष्ट्रीय सरकारों का दखल अंतर्राष्ट्रीय बाजार और व्यापार दोनों में न्यूनतम करने से इज़ारेदार व यारी पूँजीपतियों की ताकत पर अंकुश लग सकता है। अतः बाजारों के वैश्वीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया (markets without borders) का लाभ असंगठित परिवार आधारित उत्पादकों के समाज (लोकविद्या समाज) को मिल सकने की संभावना बनती है। बशर्ते असंगठित छोटे उत्पादकों के ऐसे संगठन (प्रोड्यूसर आर्गनाईजेशन - पीओ) स्थापित

किये जाय जिनके माध्यम से वे अंतर्राष्ट्रीय बाजार में अपना उत्पादन बेच सकते हैं।

महात्मा गाँधी ने जो स्वराज का सपना देखा था उसकी मूल इकाई गाँव या बस्ती (कस्बा) थी। सवाल यह उठता है कि राष्ट्रीय सरकारों के दखल से मुक्त वैश्वीकृत सीमा रहित बाजार (market without borders) और ग्राम स्वराज दोनों परस्पर विरोधी परस्पर विसंगत कल्पनाएं हैं क्या? मुझे नहीं लगता है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया की दिशा उलटी जा सकती है क्योंकि इसका आधार इंटरनेट एवं संचार की टेक्नोलॉजी का निरंतर विकास है, जिसपर मानव समाज का कोई नियंत्रण नहीं है। अतः भले ही वैश्वीकरण का विरोध दुनिया के विभिन्न देशों में समय समय पर दिखाई देता हो, वह अस्थाई और तात्कालिक हैं। यानि वैश्वीकरण एक नैसर्जिक प्रक्रिया है, जैसा कि टेक्नोलॉजी का विकास भी एक नैसर्जिक प्रक्रिया है।

पूंजीवाद के अस्तित्व में आने से पूर्व की आर्थिक सामाजिक व्यवस्था की पुनर्स्थापना असंभव है। जिन मशीनों और टेक्नोलॉजी के प्रयोग से मानव आज अभ्यस्त हो चुका है उसे वह स्वेच्छा से त्याग नहीं सकेगा। ऐसा करने से उसकी स्वतंत्रता की कोटियां कम हो जाएँगी जो मानव के लिए बर्दाशत नहीं होगा। बाह्य परिस्थितियों से मजबूर होकर उसे भले ही ऐसा करना पड़े, लेकिन पूरा मानव समाज मशीनों का प्रयोग त्याग कर सदियों पहले की जीवनशैली अपनाएगा, यह सोच निराधार है।

अतः किसान बहुल लोकविद्या समाज के सामने सबसे बड़ी चुनौती वैश्विक बाजार को एक ऐसा नया आधार देना है जिससे भेदभावपूर्ण और शोषणकारी असमान विनियम की परिपाटी से वह मुक्त हो। वैश्विक बाजार के इस पुनःरचना के दो पहलू हैं- १) बाजार में राष्ट्रीय सरकारों का दखल समाप्त करना जिससे वे इजारेदार पूँजीपतियों के एजेंट के रूप में काम न कर सकें और २) पूँजवादी बाजार में निहित mass production के प्रति पक्षपात की प्रवृत्ति से उसे मुक्त करना जिससे परिवार आधारित छोटे उत्पादकों अर्थात् production by the masses के हित में बाजार कार्य कर सकें। पूरे विश्व में फैले लोकविद्या समाजों के संयुक्त प्रयास से ही यह संभव है।



लोकविद्या बाजार – एक अहम जरूरत

कृष्णराजुल

लोकविद्या बाजार वह स्थान है जहाँ लोकविद्या समाज के सभी सदस्यों के लिए स्थायी आजीविका और सम्मानजनक जीवन सुनिश्चित करने हेतु वस्तुओं और सेवाओं का निष्पक्ष और न्यायसंगत विनिमय किया जाता है। लोकविद्या बाजार समाज के लोगों के कल्याण, गरिमा, बराबरी और को पहल को बढ़ावा देने के धर्म से प्रतिबद्ध है। इस धर्म के स्वस्थ प्रचार और प्रसार के अतिरिक्त इस व्यवस्था का और कोई मकसद नहीं है।

रोज का बाजार (स्थानीय बाजार)

लगभग हर व्यक्ति बाजार जाता है। बाजार में, माल खरीदा और बेचा जाता है। इसके अलावा कुछ सेवाएं भी उपलब्ध होती हैं, और सेवाकर्मी भी, जो बाजार में आने वाले लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जैसे, जलपान-गृह या चाय की दुकान चलाने वाले, तालासाज़, नाई, मोची, लोहार, दर्जी आदि। बाजार में आने वाले अधिकांश लोग सामान्य जीवन में उपयोग में आने वाली वस्तुओं के उत्पादक, विक्रेता और खरीदार होते हैं। खरीदी-बेची जाती अधिकांश वस्तुएं स्थानीय उत्पादन होती हैं। बाजार जाने वाले लोग इन वस्तुओं से परिचित होते हैं, और उनकी उपयोगिता और गुणवत्ता का आँकलन कर सकते हैं। जैसे बाजार जाने वाली महिलाएं खरीदने से पहले वस्तुओं का चयन बड़ी सतर्कता से करती हैं। जब वे अनाज, सब्जियां, मसाले आदि खरीदती हैं तो जरूरत, कीमत, गुणवत्ता और मात्रा के बीच सटीक संतुलन बनाये रखती हैं। यह वे अपने बड़ों से हासिल किये गये ज्ञान और बाजार में इकट्ठा किये निजी अनुभव के बल पर करती हैं।

ज्यादातर स्थानों पर, बाजार हमेशा से तय ठिकानों पर और हर हफ्ते तय दिन लगते हैं। आम तौर से हर बाजार में कई गांव और छोटे कस्बों के लोग शामिल होते हैं। खरीद-बिक्री की प्रक्रिया काफी हृद तक स्थानीय आबादी के जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के इर्द-गिर्द संगठित होती है। इस प्रकार स्थानीय बाजार रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करता रहता है। बाजार एक ऐसा स्थान बन जाता है, जहाँ सप्ताह भर में एक बार, पूरे क्षेत्र के लोग एक दूसरे से मिलते हैं और अपनी जरूरत का सामान (वस्तु, सेवा) चुनते हुए कुछ

समय एक साथ भी बिताते हैं। बाजार की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि ज्यादातर लेन-देन नकद में किए जाते हैं। स्थानीय बाजारों में होनेवाले लेन-देन में उधारी का भी अपना एक स्थान है। इसका आधार पारस्परिक विश्वास है। इसलिए मुद्रा का आवर्तन काफी हद तक स्थानीय स्तर पर होता रहता है, और वहाँ के लोगों की आजीविका और जीवन को आधार देता रहता है।

वस्तु, और सेवाओं के लेन-देन के अलावा, बाजारों में खबरों का लेन-देन, सलाह-मशविरा, वैचारिक लेन-देन, कौटुम्बिक-सामाजिक मसलों पर बात-चीत, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर संवाद, सभी होता है। दूसरे शब्दों में, बाजार वह सार्वजनिक स्थान है, जहाँ नये विचारों और उनसे जुड़े तर्कों की परख और नवीनीकरण की सम्भावना बनी रहती है, तथा जहाँ स्थानीय भौगोलिक क्षेत्र से जुड़े लोगों के बीच लगातार संपर्क के माध्यम से रिश्तों का निर्माण होता रहता है। ये मजबूत स्थानीय संबंध केवल निजी लाभ और हानि के आधार पर नहीं बनते बल्कि, उनका चरित्र और पैमाने मानवीय होते हैं।

इस बाजार की तुलना में, बड़े शहरों के मॉल और बाजारों (मार्केट) में खरीदारी और बिक्री की प्रक्रियाओं में मुनाफ़ा-नुकसान की सोच का वर्चस्व होता है। इन बाजारों में लोगों को विज्ञापन के जरिए ऐसे सामान या सेवाएँ खरीदने के लिए उकसाया जाता है, जिनकी सामान्य जीवन में कोई, या कोई खास आवश्यकता न हो। यहाँ बिकती अधिकांश वस्तुएं दूरस्थ उद्योगों में निर्मित होती हैं, जहाँ के श्रमिकों और उत्पादनकर्ताओं को स्थानीय सामान्य लोगों के रुझान की जानकारी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, महानगरीय बाजारों के लेन-देन में कोई मानवीय तत्व नहीं है। इसके पीछे एकमात्र उद्देश्य पैसों का लाभ है, जो वास्तव में ‘उपभोगवादी संस्कृति’ की जड़ है।

विषम विनिमय

स्थानीय बाजारों और महानगरों के मार्केट के बीच एक बड़ा अंतर यह है कि स्थानीय बाजारों में वस्तुओं की लेन-देन करते दो पक्षों के बीच कीमतों पर मोल-भाव सर्वमान्य है, जब कि मार्केट में इसकी कोई संभावना नहीं होती। मोल-भाव का सिलसिला खरीदार और विक्रेता के बीच मानवीय संबंधों को बनाने और बरकरार रखने की प्रक्रिया का एक हिस्सा है। महानगरों के बाजारों में लेन-देन की प्रक्रिया में मानवीय सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं। मोल-भाव का अर्थ

यह हुआ कि भले ही विक्रेता उत्पादन की लागत, श्रम, सामग्री, उपलब्धता, मांग आदि के आधार पर मूल्य तय करता हो, बिक्री के समय तक इस में परिवर्तन की सम्भावना बनी रहती है। बाजार जाने वाला हर खरीदार यह मान कर ही वहाँ जाता है कि वह मोल-भाव का हकदार है। इसलिए स्थानीय बाजार में किसी भी वस्तु या सेवा की कीमत उसकी बिक्री तक परिवर्तनीय है, और आपसी मानवीय प्रक्रियाओं के माध्यम से तय होती है। इससे ठीक उलटे, मार्केट में मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया उत्पादनकर्ता और खरीदार दोनों से कोसों दूर है। इस दूरी का स्पष्ट एहसास १९९१ के मार्केट वैश्वीकरण के बाद खाद्य और रोजमर्रा की अन्य जरूरी वस्तुओं की कीमतों में हुई भारी वृद्धि ने कराया।

यह तो आम अनुभव है कि स्थानीय बाजार में उपलब्ध सामान, वस्तुओं और सेवाओं की तुलना में शहरों में ये चीजें अधिकतर महंगी होती हैं। कारखानों में उत्पादित कुछ वस्तुएँ, जैसे, प्लास्टिक के बर्तन, बालटी, चप्पल, कुर्सियाँ आदि, स्थानीय बाजारों में उपलब्ध मिट्टी, धातु, लकड़ी या चमड़े के बने हुए सामानों से अवश्य सस्ती हैं। परिणामवश, मिट्टी के बर्तन, पात्र, बालटी, कप और चमड़े की चप्पलों का उत्पादन स्थानीय क्षेत्रों में लगभग बंद हो गया है। कुम्हार, लोहार और मोची इन वस्तुओं को मार्केट-कीमतों पर नहीं बेच पाते। आज कोई मिट्टी के बर्तन खरीदने जाय, तो वह पाता है कि प्लास्टिक या एल्यूमीनियम के बर्तन भी मिलते हैं, जो तुलनात्मक रूप में संभवतः सस्ते और अधिक टिकाऊ हैं। इसलिए लोग कारखानों में उत्पादित ‘सस्ता’ माल खरीदते हैं, क्योंकि स्थानीय रूप से निर्मित सामान ‘महंगा’ पड़ता है। ‘सस्ता खरीदो और महंगा बेचो’ यह रवैया तो मार्केट का मूल नियम है, और भारी लाभ निकालने का आधार भी। स्थानीय बाजार में भी यह रवैया काफी हृद तक फैल गया है। इसका नतीजा क्या है? यहीं कि किसान, कारीगर और छोटे व्यापारी का व्यवसाय निरंतर अस्थिर बना रहता है, और ये लोग धीरे धीरे अपनी उत्पादक क्रियाओं से बेदखल हो गए हैं। स्थानीय स्तर के उत्पादों की उपलब्धि घट गयी है। स्थानीय बाजार मार्केट की एक शाखा बन कर रह गया है। छोटे दुकानदार अपने कारोबार को बनाए रखने में भारी मुश्किलों से जूझ रहे हैं।

स्थानीय बाजार में खरीदार और विक्रेता कौन हैं?

स्थानीय बाजार स्थानीय क्षेत्र की जरूरतों को पूरा करता है। इस क्षेत्र में चंद कोसों के दायरे में आनेवाले १०-१२ गांवों के लोग शामिल होते हैं। ये लोग

खरीदार हैं, और विक्रेता भी। इनमें अनाज, बाजरा, दाल, सब्जियां, आदि के उत्पादक किसान, दैनिक उपयोग या साधारण जीवन की आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुओं के उत्पादक कारीगर (बुनकर, कुम्हार, दर्जी, मोची, आदि), सामान्य जीवन में कुशलता से आवश्यक सेवा देने वाले व्यक्ति (धोबी, नाई, बढ़ी, चाय-नाश्ता दुकानदार, लोहार, तालासाज़, मालवाहक गाड़ीवाल, मजदूर आदि) तथा घरेलू सामान, प्लास्टिक के बर्टन, कीटनाशक, जड़ी-बूटियों, स्थानीय दवाइयाँ, मसाले, बर्टन आदि के दुकानदार शामिल हैं। इन लोगों में एक बड़ा हिस्सा महिलाओं का है, जो इन कामों को करने के साथ ही घर के काम-काज और प्रबंधन का दायित्व भी संभालती हैं। इनमें अधिकतर लोग अशिक्षित या अर्ध-साक्षर होते हैं। अर्थात्, वे कभी स्कूल गए ही नहीं, या सिर्फ माध्यमिक शिक्षा पाए। कुछ गिने-चुने हाईस्कूल तक की शिक्षा पा लेते हैं, इसलिए थोड़ा-बहुत पढ़-लिख लेते हैं। वे जो काम करते हैं उसका आधार स्कूल में प्राप्त शिक्षा नहीं है। जिस काबीलियत पर वे अपना काम करते हैं, वह स्कूल की शिक्षा का नतीजा नहीं है। खासकर महिला विक्रेताओं की 'गणितीय क्षमता' गौर करने वाली बात है, और वह भी स्कूल की शिक्षा का नतीजा नहीं है!

सवाल यह बनता है कि इन तमाम लोगों की क्षमताओं का स्रोत क्या है? ये सब इतने सारे काम बखूबी कर पाते हैं इसका मूल कारण वह ज्ञान और हुनर है जो उन्होंने अपने रोजमर्रा के जीवन में घरों, परिवारों, गाँवों और समाजों में प्राप्त किया है। उनके माता-पिता, बुजुर्ग उनके शिक्षक हैं। वे जो कुछ जानते हैं, वह सब उन्होंने रोजमर्रा की क्रियाओं, अनुभव और अपने परिसर के अवलोकन से सिखा है। यह ज्ञानार्जन तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान और कौशल्य का हस्तांतरण बड़े कारण तरीके से होता रहता है। स्थानीय स्तर पर प्रसृत यह ज्ञान लोकविद्या है। यह ज्ञान परिसर की दैनंदिन क्रियाओं से निरंतर नवीन होता रहता है। कौन नहीं जानता कि अगर रोज के काम के लिए जरूरी हो तो, वह व्यक्ति भी, जिसके पास न कोई औपचारिक शिक्षा है न संख्या-ज्ञान, अपने मोबाइल फोन का इस्तेमाल सहज ही सीख लेता है।

स्थानीय बाजार लोगों के लिए महत्वपूर्ण क्यों हैं?

साफ बात यह है कि इस बाजार से जुड़े क्षेत्र के सभी लोग जानते हैं कि वे वहाँ जीवन की सभी जरूरतें पा सकते हैं। यदि वे ऐसी वस्तुओं के उत्पादक

हैं, तो वे यह भी जानते हैं कि वे अपने उत्पाद लोगों को बेच पाएंगे, क्योंकि उन्होंने उत्पादन ही उनकी जरूरतों के अनुसार किया है। स्थानीय बाजार वहाँ के लोगों के सामान्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। उसमें स्थानीय जीवन की महक है। इस बाजार में व्यापार की शर्तें शामिल लोगों के प्रभाव में परिभाषित हुई हैं। वह किसी पारिवारिक मेले की तरह है, और उस क्षेत्र के जीवन-मूल्यों से मजबूत रिश्तों से बंधा है। वह उनकी आजीविका को बनाए रखने में मददगार है, और उन्हें आश्रस्त करता है कि वे, उनके परिवार और बच्चे बिना किसी भारी कठिनाई के सम्मानपूर्वक जी सकते हैं। स्थानीय बाजार उनकी साझा पहचान लगातार सशक्त करता रहता है।

ज्ञान, कौशल और प्रबंधन

सामान्य रूप से उद्योगों में उत्पादित, मॉल आदि में बेची जाती वस्तु स्थानीय बाजार में बिकनेवाली तत्सम वस्तु से महँगी होती है। उत्पादों और सेवाओं की बाजारी कीमतों के निर्धारण के कई कारक हैं जैसे उत्पादन की लागत, परिवहन की लागत, व्यापारी का मुनाफ़ा, विज्ञापन की लागत और देय कर, इत्यादि हमारी दृष्टि में इनमें जो महत्वपूर्ण कारक है, उसकी चर्चा हम यहाँ करना चाहेंगे।

आप किसी से भी पूछें कि टाटा के कारखाने में बनी एक कुदाल की कीमत स्थानीय लोहार से निर्मित ऐसी ही कुदाल की कीमत तुलना में, या कारखाने में बाटा द्वारा निर्मित चप्पल की एक जोड़ी की कीमत स्थानीय मोर्ची ने बनाई जोड़ी की कीमत की तुलना में बहुत ज्यादा क्यों है। जवाब होगा, ‘कारखाने के उत्पाद की गुणवत्ता बेहतर है, क्योंकि वह मशीन द्वारा बना है। यह मान भी लें कि लोहे या चमड़े की लागत दोनों ही मामलों में लगभग एक जैसी है, तब भी मशीन की लागत बहुत अधिक है, और इसे कुशल कामगार चलाते हैं, उत्पादन-क्रिया का निरीक्षण भी जरूरी होता है। इन सब पर आने वाली लागत स्थानीय श्रमिक (मोर्ची और लोहार) की श्रम की लागत से कहीं अधिक है।’ मतलब, कीमतों में असमानता का कारण कारखानों में उत्पादन करने के लिए कामगार और निरीक्षक तथा प्रबंधक के ज्ञान और कौशल के भुगतान की लागत के संदर्भ में समझा जाता है। यह ज्ञान या कौशल कॉलेज की शिक्षा से प्राप्त किया जाता है। कारखाने में उनकी नौकरी इस पर आधारित है कि उनके पास विशेष डिग्री या डिप्लोमा है। बेशक, लोहार और मोर्ची के पास भी उत्पाद

बनाने के लिए लोहे या चमड़े पर काम करने का ज्ञान और कौशल हैं, और वे खुद ही पूरी प्रक्रिया का प्रबंधन भी करते हैं। हालांकि यह ज्ञान और कौशल (लोकविद्या) उन्होंने किसी कॉलेज से प्राप्त नहीं किया। लेकिन उनके उत्पादों की कीमत में केवल उनके श्रम के लिए मजदूरी शामिल होती है, न कि उनके ज्ञान और कौशल के लिए।

फैक्टरी निर्मित उत्पादों का एक मानक होता है इसलिए प्रत्येक टुकड़ा एक जैसा ही दिखता है। एक ही आकार, एकही रंग। ग्राहक को बाजार में उपलब्ध विकल्पों में से ही चुनना पड़ता है। स्थानीय लोहार या मोर्ची के उत्पाद बिल्कुल एक समान नहीं हो सकते हैं। हर कुदाल, हर चप्पल दूसरी कुदाल या चप्पल से अलग होती है। ग्राहक की पसंद के अनुरूप माल बनाया जा सकता है। यह कौशल लोहार या मोर्ची की अंतर्निहित रचनात्मकता का प्रतीक है। उनके पास अपने रचनात्मक कौशल का प्रयोग करने के अवसर हैं। प्रधान शिल्पकार उत्पादित वस्तु में उपयोगिता के साथ सुन्दरता को अंजाम दे सकता है। लेकिन इन दिनों हर कोई कारखाने में बने सामान को पसंद करता दिखता है, और साथ ही तत्सम स्थानीय उत्पाद से ज्यादा भुगतान करने के लिए तैयार भी है।

वक्त के गुजरते, स्थानीय रूप से उत्पादित वस्तुओं की खरीद में घटौती स्थानीय ज्ञान और जीवनयापन के अवमूल्यन को बढ़ावा देती है। आश्र्य की बात नहीं कि लोकविद्या के बलपर उत्पादन और निर्माण करनेवाले समाजों के बच्चे आजीविका में सुनिश्चितता की तलाश में अपने समाजों से दूट रहे हैं।

यदि स्थानीय बाजार मार्केट की मात्र शाखा बन जाये तो क्या होगा?

‘जब आप प्रतियोगी के साथ स्पर्धा नहीं कर सकते, तो उससे जुड़ें!’, यह जिन्दा रहने का पुराना मंत्र है। इसलिए बहुत से लोग आज यह कहते नज़र आते हैं कि स्थानीय उत्पादकों को सर्वव्यापी मार्केट में अपनी जगह तलाश लेनी चाहिए। लेकिन तब तो स्थानीय बाजार शहरी मार्केट की एक शाखा बन कर रह जाएगा। स्थानीय बाजार में हर विक्रेता किसी दूरस्थ उत्पाद को अपनी छोटी दूकान में बेचता नज़र आएगा। स्थानीय उत्पादक अधिकारीन होते जाएंगे। वे भी बाजार में छोटे व्यापारियों की भूमिका निभाने के लिए मजबूर हो जाएंगे, या, हो सकता है, कहीं और उत्पादित वस्तुओं की मरम्मत करने वाले। यही हुआ है। सभी मोटर-साइकिल और कारों के मैकेनिक लोकविद्या समाज के वही

लोग हैं, जो अपने परम्परागत उत्पादक काम छोड़ औद्योगिक उत्पादों की मरम्मत, और रख-रखाव का ज्ञान और कौशल हासिल कर चुके हैं। मुर्गी पालन की प्रथा का पोलट्री उद्योग में बदल जाना इसी प्रक्रिया का उदाहरण है। आज मवेशी पालन मुख्य रूप से उस दूध-उत्पादन के लिए है जो प्रसंस्करण, पैकेजिंग और लोगों के उपभोग के लिए बड़े डेयरी उद्योग को दूध की आपूर्ति करता है।

लोकविद्या समाज के कई सदस्यों ने अपना परम्परागत व्यवसाय छोड़ दिया है और स्थानीय बाजारों में उद्योग-उत्पादित वस्तुओं के दुकानदार बन गए हैं। इसी तरह से उनका परिवार चल पाता है। जो लोग अपने पारंपरिक व्यवसाय के साथ अभी भी जुड़े हुए हैं, जैसे किसान, बुनकर, लोहार, सुनार, इत्यादि, वे सभी प्रतिकूल मार्केट परिस्थितियों के कारण गरीब हो गए हैं। इनमें कुछ कर्ज और भुखमरी से बचने के लिए आत्महत्या का रास्ता अपना रहे हैं। यदि स्थानीय बाजार मजबूरन शहरी मार्केट की एक शाखा मात्र बनकर रह जाता है, तो लोकविद्या समाज की सम्मान के साथ जीने की सारी उम्मीदों पर पानी फिर जाता है।

लोकविद्या समाज की इस बुरी स्थिति के बारे में क्या किया जा सकता है?

यह स्पष्ट है कि सरकार और शहरी लोग मार्केट-प्रणाली के विकास और प्रसार को प्रोत्साहित कर रहे हैं। उनका मानना है कि हमें वैश्विक-बाजार के साथ तालमेल रखना चाहिए और वैश्विक-मार्केट प्रणाली के नियमों और ‘मूल्यों’ के अनुसार ही व्यापार का संचालन होना चाहिए। लेकिन, यह प्रणाली तो दुनिया भर के अमीरों के लाभ और धन में वृद्धि करने के उद्देश्य से पनपी है। यहीं इसका मुख्य नतीजा भी रहा है। यदि इस रास्ते पर ही और बढ़ा जाता रहा तो स्थानीय बाजार तथा लोकविद्या समाज के सभी लोग अपनी आजीविका से विस्थापित होने के लिए मजबूर होंगे और उनकी विपन्नावस्था का कोई पारावार न रहेगा। उनमें से कुछ मजबूरी में बड़े व्यवसायों और निर्माताओं के साथ गौण भागीदारी में मार्केट व्यवस्था से जूझने की कोशिश करेंगे। लेकिन लोकविद्या समाज की अधिकांश आबादी बेइंतहा कर्ज और विपन्नता में ढकेल दी जाएगी, और सम्मान-रहित जीवन जीने पर मजबूर हो जाएगी। यहीं हो रहा है।

समाज इस स्थिति को रोकने और लेन-देन की प्रक्रिया में मानवीय मूल्यों को वापस लाने के बारे में क्या कर सकता है? यह देखते हुए कि समाज

में विशाल जनसंख्या के लिए जीवनयापन का एकमात्र उपलब्ध तरीका उनके अपने ज्ञान और कौशल के बलपर है, आज की भयानक स्थिति पर मात करने के लिए यह सोचना जरुरी है कि है इस बल में वृद्धि कैसे हो सकती है। हम जानते हैं कि आधुनिक मार्केट का स्थानीय बाजार पर सर्वथा नकारात्मक दबाव इस विचार को लगातार पीछे ढकेलने का काम करेगा। इसके जवाब में लोकविद्या समाज को उन मूल्यों को पुनर्जीवित और पुनर्स्थापित करने के लिए कदम उठाने चाहिए, जिनकी ताकत पर कई युगों से स्थानीय बाजार और लोकविद्या के आधार पर उनकी आजीविका बनी रही। यह संभव होगा, बशर्ते समाज 'लोकविद्या बाजार' को पुनर्जीवित करने की ठाने।

लोकविद्या बाजार क्या है?

लोकविद्या बाजार की अंतर्निहित प्रेरणा, अर्थात् धर्म कुछ ऐसा है:

१. स्थानीय उत्पादकों के द्वारा ऐसे उत्पाद और सेवाएं उपलब्ध हों जो आम जीवन के लिए जरुरी हैं;
२. जीवन और आजीविका की निरंतरता के लिए वस्तुओं और सेवाओं के आदान-प्रदान की सुविधाओं को रचा जाय;
३. इनके बल पर समाज के सदस्यों का सम्मानजनक जीवन सुनिश्चित हो;
४. इन प्रक्रियाओं में शामिल विभिन्न ज्ञान-धाराओं के लिए एक ही दर्जे की मान्यता और सम्मान हो, जिसके आधार पर भाईचारे और परस्पर निर्भरता को बढ़ावा दिया जाय।

सर्व-भक्षी शहरी मार्केट प्रणाली और लोकविद्या बाजार के बीच का महत्वपूर्ण अंतर:

विषम-विनिमय और वित्त-पूँजी पर आधारित मार्केट प्रणाली आर्थिक और सामाजिक असमानता को जन्म देती है, जिससे समाज में शोषण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसके ठीक विपरीत, लोकविद्या बाजार एक ऐसी मानवीय विनिमय प्रक्रिया के स्थान के रूप में जाना और देखा जाएगा, जो उस समाज के लोगों के कल्याण, गरिमा, बराबरी और को पहल को बढ़ावा देने के धर्म से प्रतिबद्ध है। इस धर्म के स्वस्थ प्रचार और प्रसार के अतिरिक्त इस व्यवस्था का और कोई मक्क्सद नहीं है।

इस तरह लोकविद्या बाजार उसमें भागीदार सभी समाजों के बीच

समानता और आपसी सौहार्द को बरकरार रखनेवाली सामूहिक गतिविधि है। इसका धर्म विनिमय क्रियाओं के अभ्यास के माध्यम से लोकविद्या के दार्शनिक, सामाजिक और आर्थिक आयामों को आबाद करना है; हर पल, हर जगह एक दूसरे को समृद्ध करने का यह अभियान है।

वैचारिक स्तर पर लोकविद्या बाजार समाज की सभी उत्पादन और वितरण क्रियाओं पर हावी होगा। भौगोलिक दृष्टि से बाजार का क्षेत्र सीमित (गाँव, पंचायत) इलाकों में होगा। यह बाजार उस क्षेत्र की आबादी की रोजमर्ग की जरूरतों की पूर्ति करेगा। वह सापाहिक बाजारों जैसा होगा जो अभी भी देश के अधिकांश हिस्सों में प्रचलित हैं। कई सेवाएं, जैसे दूध वितरण, धोबी सेवाएं, आदि उपलब्ध करायी जा सकेंगी। यहां कई उत्पादों और सेवाओं के लिए ऑनलाइन खरीद और वितरण के साथ-साथ घर-घर वितरण की सुविधा भी उपलब्ध करायी जा सकेगी। बाजार में उपलब्ध माल को दूर दराज तक ले जाने और वहाँ का माल बाजार तक लाने के लिए सड़क, रेल, जलमार्ग और वायुमार्ग जैसी संचार प्रणालियों का इस्तेमाल किया जा सकेगा। गैर-स्थानीय गतिविधियों को मोबाइल और चलनशील बिक्री द्वारा सहायता प्रदान की जा सकेगी। ई-कॉर्मस के मौजूदा रुझानों का विस्तार सरल होगा, और छोटे बाजारों की भूमिका और आवश्यकता को फिर से परिभाषित करेगा।

हम लोकविद्या बाजार को फिर से कैसे स्थापित कर सकते हैं?

लोकविद्या बाजार के निर्माण में हर क्षेत्र के लोकविद्या समाज में बहुसंख्य अन्नदाता किसान समाज पहल ले सकता है। लोकविद्या बाजार की बढ़ोत्तरी और संचालन में सक्रिय भागीदारी के लिए अन्य क्षेत्रीय समाजों का मन बनाने में भी अन्नदाता की अहम भूमिका है। इस अभियान की शुरुआत के लिए निम्नलिखित बातों पर सहमति बनाना महत्वपूर्ण होगा:

१. स्थानीय रूप से उत्पादित सामान और वस्तुओं को खरीदें;
२. स्थानीय कारीगरों, कुशल श्रमिकों और सेवाकर्मियों द्वारा प्रदान की जाने वाली स्थानीय रूप से उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं का लाभ उठाएं;
३. जब आप स्थानीय रूप से उत्पादित माल और वस्तुओं को खरीदते हैं, या स्थानीय सेवाओं और कौशल का लाभ उठाते हैं, तब आप वास्तव में

- अपने भाइयों और बहनों के जीवन और आजीविका के लिए लाभदायक 'रोजगार' प्रदान करते हैं
४. बाहरी या औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उत्पादित और स्थानीय स्तर पर उत्पादित एक सी जरूरतों का समाधान करती वस्तुओं और सामानों की कीमतों में बड़े अंतर को देखें और अपने आप से पूछें कि आप बाहरी उत्पाद के लिए अधिक पैसे क्यों देना चाहते हैं?
 ५. सामान्य जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं और सेवाओं को स्थानीय रूप से स्थानीय बाजार में उपलब्ध कराया जा रहा है। ऐसे माल और वस्तुओं के उत्पादकों का व्यवसाय उनका अपना हैं जब आप उनके उत्पाद खरीदते हैं, तो आप उनके जीवन और आजीविका के साथ खड़े होते हैं। यह लोकविद्या बाजार का 'धर्म' है। इस 'धर्म' को अपनाएं और इसके रास्ते पर चलें।
 ६. आपके लिए सम्मानजनक जीवन का मार्ग स्थानीय समाजों के उत्पादकों और उपभोक्ताओं के समर्थन से प्रतिष्ठा पाता है। आइए हम ऐसे मार्गों का निर्माण करें, इसका पोषण करें और इन्हें बनाए रखें!
 ७. हम जब यह करते हैं, तो हमारे बच्चों को रोजगार या अपनी खुशहाली के लिए किसी के सामने हाथ फैलाने की जरूरत नहीं रहती।
 ८. कोई भी सरकार सभी को सम्मानजनक लाभकारी रोजगार न कभी प्रदान कर पायी है, न कर सकती है और न कभी कर पायेगी।
 ९. सरकारों से यह मांग की जाए कि सभी काम कर रहे लोगों (लोकविद्या समाज) को सरकारी कर्मचारियों की आय जैसी निर्धारित, निश्चित, और उस बराबरी की आय मिलनी चाहिए।

स्थानीय बाजारों से जुड़े सभी मुद्दों की स्थानीय स्तर पर चर्चा करने की जरूरत है। हर क्षेत्र में मौजूदा स्थानीय बाजार के एक हिस्से को लोकविद्या बाजार के सिद्धांतों-नियमों पर प्रस्थापित करने से पहले क्रियान्वयन के तरीकों और चरणों के बारे में वहाँ के समाजों में आपसी संवाद होना चाहिए। इन तरीकों का अभ्यास ही उन अवधारणाओं में स्पष्टता ला सकता है, जिनकी हमने चर्चा की। लोकविद्या बाजार के क्रियान्वयन की सफलता भविष्य में उचित समय पर लोकविद्या बाजार आंदोलन खड़ा करने की प्रेरणा देगी।



फेसबुक पोस्ट

घाटे की किसानी और बेरोजगारी

१८ सितंबर २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

घाटे की किसानी और बेरोजगारी का कारण एक ही है – पूँजी बहुल औद्योगिक विकास। ज्यादा पूँजी पैदा ही तब होती है जब कृषि उत्पादन का मूल्य बहुत कम दिया जाता है। इस ज्यादा पूँजी से वे उद्योग लगाए जाते हैं जो ज्यादा पूँजी के बल पर बनते हैं। इनमें लागत की तुलना में नौकरियां बहुत कम होती हैं। ये बड़े पूँजीपति और बड़े व्यापारी छोटे उद्योगों और छोटे धंधों को कम कर देते हैं। दुनियाभर की लोकतंत्र सरकारें इसी व्यवस्था को बनाती और पुरखता करती हैं। बेरोजगारी इसका अपरिहार्य नतीजा है।

किसान आंदोलन और बेरोजगारी की खिलाफत के आंदोलन को साथ आना होगा। जब किसानी लाभकारी होगी तब गांव में संसाधन होंगे, स्थानीय बाजार तथा उद्योग में हलचल रहेगी और रोजगार के बहुआयामी रास्ते खुलेंगे। छात्र किसान एकता का नारा बुलंद हो और हजारों हजार की तादाद में छात्र किसान आंदोलन के समर्थन में आगे आयें।



गाँव की गरीबी में पूँजीवादी शासन का आधार

२१ जनवरी २०२२

सुनील सहस्रबुद्धे

लोकविद्या आन्दोलन के संस्थापक राष्ट्रीय समूह में आजकल हर हफ्ते ऑनआलाइन चर्चा होती है। दो दिन पहले यह चर्चा आय, रोजगार और लोकविद्या समाजों के विस्थापन को ले कर हो रही थी। यह चर्चा प्रत्यक्षतौर पर किसान आन्दोलन में संदर्भित की गई थी। जाहिर है एमएसपी की मांग और व्यवस्था एक केन्द्रीय भूमिका में आ गई। सभी भागीदार १९८० से इस नए किसान आन्दोलन में सक्रिय रहे हैं। कृषि उत्पाद के दाम का सवाल उस वक्त किसानों के सबसे बड़े सवाल के रूप में सामने आया। किसानों को दाम मिलेगा

तो उसके क्या नतीजे होंगे इस पर भी उस वक्त बहुत चर्चा हुई। उसी चर्चा की अपनी समझ मैंने अपनी पिछली पोस्ट में दी है। इस ऑनलाइन बहस में एक महत्वपूर्ण बात सामने आई। किसी ने यह कहा कि जब किसानों को अपने उत्पादन का दाम थोड़ा ठीक-ठाक मिलता है तब गाँव के अन्दर विभाजनकारी गतिविधियाँ कमज़ोर पड़ जाती हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण है। अर्थ यह निकला कि गाँव की गरीबी में पूँजीवादी शासन का आधार है। गाँव गरीब रहेगा तो उसके अन्दर विभाजनकारी शक्तियाँ सक्रिय रहेंगी। किसान आन्दोलन की यह भी स्थापना रही है कि शोषण और शासन दोनों का एक बहुत बड़ा आधार गाँव के अंदरूनी विभाजन में होता है। महात्मा गांधी से प्रेरणा लेकर काम करने वाले गाँव की एकता की बात करते हैं। लेकिन ब्रिटिश काल में जर्मांदारों और जर्मांदारी की व्यवस्था के खिलाफ लड़ने वालों ने आज़ादी आने और उसके बाद जर्मांदारी खत्म होने से गाँव की स्थिति में आये परिवर्तन को नहीं पहचाना और वे गाँव के अंदर ही गाँव की गरीबी का कारण व गाँव के गरीबों के दुश्मन को ढूँढ़ते रहे। किसान आन्दोलन ने बड़े पैमाने पर इस समझ को नकारा है। नारायण स्वामी नायडू किसान आन्दोलन के जनक माने जाते हैं। तमिलनाडु के इस किसान नेता ने १९५० का दशक समाप्त होने के पहले ही इस नये किसान आन्दोलन की नींव डाल दी थी जो १९८० के दशक में पूरे देश में छा गया और आज साल भर के महासंघर्ष के बाद तीनों कृषि सम्बंधित काले कानूनों को वापस करा कर, अब एम एस पी की मांग पर यानी कृषि उत्पाद के जायज़ मूल्य के सवाल पर टिक गया है। इसके जरिये लोकोन्मुख भारत की एक नई कल्पना बनती है। सभी वर्गों, समुदायों और क्षेत्रों से जैसा समर्थन किसान आन्दोलन को मिला है उससे ऐसे नये भारत की कल्पना वास्तविक है इसे बल मिलता है।



भाग- ३

ज्ञान, राजनीति और भावी समाज की दृष्टि

सामान्य जीवन में अंतर्निहित ज्ञान, लोकविद्या, न्याय, त्याग और भाईचारा के मूल्य, अहिंसा और लोकधर्म, लोकविद्या समाज की अर्थव्यवस्था, लोकविद्या समाज की एकता, ज्ञान-सत्ता, स्वायत्तता, समाज संगठन, समाज में वितरित सत्ता, स्वराज, और भावी समाज की दृष्टि

लोकविद्या-समाज की एकता

चित्रा सहस्रबुद्धे

आज्ञाद भारत के किसान आन्दोलन से ही लोकविद्या विचार और लोकविद्या दर्शन का जन्म हुआ है। इस दर्शन का ज्ञान-आधार लोकविद्या में है और जन-आधार लोकविद्या-समाज में है। मात्र विस्थापित और गरीब होना ही इन समाजों की पहचान नहीं है। न वह सिर्फ स्थान, धर्म, जाति, व्यवसाय, सम्प्रदाय से ही बंधी है। लोकविद्या-समाज हर तरह की विविधता से पूर्ण है। किसान आन्दोलन के उजाले में हम लोकविद्या-समाज के उदय, स्वरूप और विस्तार, उसके ज्ञान-आधार और उसकी विशिष्टता तथा उसके संगठन के प्रकारों को उजागर कर उसकी एकता के रास्तों पर विचार होना जरूरी है। किसान आन्दोलन ने सिर्फ तीन कानून ही निरस्त नहीं कराये, बल्कि इस देश की लोकविद्या परम्परा को, समाजों की स्वायत्त पहचान को, संगठन के देसी तरीकों और विचारों को, और सबसे महत्वपूर्ण नैतिक मूल्यों को सार्वजनिक दुनिया में पुनर्प्रतिष्ठित करने का सफल कार्य कर दिखाया है।

संत कबीर कह गए हैं-

चलती चाकी देख के दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय ॥

आज सत्ता, ज्ञान और राजनीति के आपसी रिश्तों को कबीर की ये दो पंक्तियाँ सशक्त अर्थ देती हैं। एक तरफ संगठित धर्मों का ज्ञान है और दूसरी ओर साइंस का संगठित ज्ञान है। इन दो संवेदनहीन पाटों से बनी ‘विकास’ की चक्री चल रही है। दुनिया भर की सत्तायें, सरकारें और राजनीति, जो लोकतांत्रिक हों या समाजवादी, इस चक्री को संचालित कर रही हैं और इसमें किसान, कारीगर, आदिवासी, ठेले-पटरी वाले और इन सबके परिवार पीसे जा रहे हैं। इस चक्री के आठे को खाने वाले (पूँजीपति, मीडिया और सरकारी कर्मचारी) चक्री के गुण गा रहे हैं!

आज्ञाद भारत में सरकार चाहे जो रही हो, ‘विकास’ के जितने भी कार्यक्रम आते रहे हैं वे एक या दूसरे ढंग से इन समाजों की लूट के बल पर ही आकार लेते रहे हैं और राजनीति में इन समाजों की कोई आवाज़ नहीं रही है। यह सच है कि इन समाजों की खुशहाली के बिना मनुष्य मनुष्य बन कर नहीं

जी पायेगा, हैवान हो जायेगा। चाहे डेमोक्रेसी हो या समाजवाद, किसी भी तरह की राज्य व्यवस्थाएं मनुष्य से ऊपर नहीं हो सकतीं। यदि धर्म, राज्य, मशीन, विचारधारा आदि, इनमें से कोई भी, जिंदा मनुष्य और समाजों को खारिज कर दें, तो ये त्यागने योग्य ही कहे जायेंगे। आज ऐसा ही दौर है। कोरोना महामारी के दौरान यह बात और भी साफ़ हो चुकी है। ऐसे ही दौर में मनुष्यता के मूल भाव को पहचानने और उसे संवर्धित करने की ज़रूरत होती है। २६ नवम्बर २०२० से लगभग एक वर्ष तक चले ऐतिहासिक किसान आन्दोलन ने इसके लिए निश्चित ही ज़मीन तैयार कर दी है।

आजाद भारत के किसान आन्दोलन से ही लोकविद्या विचार और लोकविद्या दर्शन का जन्म हुआ है। इस दर्शन का ज्ञान-आधार लोकविद्या में है और जन-आधार लोकविद्या-समाज में है, यानि उन समाजों में जो लोकविद्या के बल पर अपनी जीविका चलाते हैं और बृहत् समाज का पालन-पोषण करते हैं। इनमें किसान, कारीगर, आदिवासी, छोटी-छोटी दुकानदारी और तरह-तरह की सेवायें करने वालों के समाज और परिवार आते हैं। लोकविद्या दर्शन उस चेतना का प्रसार करता है, जो मनुष्य को प्रकृति की लिय में जीने के ज्ञान-दर्शन से लैस करने, न्याय, त्याग और भाईचारे के मूल्य को प्रतिष्ठित करने और लोकविद्या-समाज की एकता का सहज और सामान्य सूत्र स्थापित करने का लक्ष्य रखती है। इस लेख में किसान आन्दोलन के उजाले में हम लोकविद्या-समाज के उदय, स्वरूप और विस्तार, उसके ज्ञान-आधार और उसकी विशिष्टता तथा उसके संगठन के प्रकारों को उजागर कर एकता के रास्तों पर विचार करेंगे।

१. लोकविद्या-समाज का स्वरूप

आजादी के बाद १९७० के दशक से शुरू हुए राष्ट्रव्यापी किसान आन्दोलन ने किसान-समाज को लोकविद्या-समाज के पहल लेने वाले एक बड़े घटक के रूप में पहचान दी है। इस किसान आन्दोलन ने ही कहा कि देश की नीतियाँ ‘भारत-इण्डिया’ विभाजन पैदा कर रही हैं। गाँवों के संसाधनहीन और गरीब होने का कारण गाँव के अन्दर नहीं, बल्कि बाहर है और किसान की उपज को दाम न देकर ही विकास के रथ को चलाया गया है। किसान आन्दोलन की इस समझ को बाद की घटनाओं से मजबूती मिली। किसान की उपज को दाम न देकर न केवल उद्योगों को सस्ता कच्चा माल मिला बल्कि किसानी बरबाद कर कारखानों को सस्ते मज़बूर भी उपलब्ध कराये गए। छोटे-छोटे उद्योगों के

कारीगर समाजों और जंगलों से खदेड़े गए आदिवासी समाजों के साथ भी कम-अधिक पैमाने पर यही हुआ। १९८० के दशक में कपड़ा मिलों के बंद होने और संगठित मज़दूर आन्दोलन (ट्रेड यूनियन) के टूट जाने पर ये ही मज़दूर, जिन्हें किसानी और कारीगरी को बरबाद कर सस्ते मज़दूर बनाया गया था, समाज में वापस फेंक दिए गए। ये मजबूर मज़दूर छोटी-छोटी इकाइयों में कारीगर के रूप में या ठेले-पटरी-गुमटी की दुकानदारी करके जीविका चलाने लगे और पहले से मौजूद विविध प्रकार के बृहत् कारीगर-समाजों के बीच आ गये। सरकारों की नीतियां मुनाफा आधारित उद्यमों को समर्थन देने की बनी रही। कारीगर-समाजों का यह विस्तार और इनकी बदहाल स्थिति का कारण इन समाजों के बाहर ही था। इन्हें एक साथ लेकर लोकविद्या-समाज के महत्वपूर्ण अंग के रूप में पहचानना अब संभव हो गया। खनिजों और जंगलों पर केन्द्रीय सत्ता तथा बड़ी-बड़ी कंपनियों द्वारा शिकंजा कसने वाली क्रियाओं ने आदिवासी-समाजों को उध्वस्त कर दिया। आदिवासी समाजों ने अपने समाज, विरासत और संस्कृति को बचाने के लिए ही नहीं बल्कि बृहत् समाज के हित में मानवीय मूल्यों और पर्यावरण और प्रकृति को विनाश से बचाने के लिए इन अतिक्रमणकारी मुहिमों का विरोध किया। इन आन्दोलनों से आदिवासी समाजों को लोकविद्या-समाज के अटूट अंग की पहचान मिली। वैश्वीकरण के चलते छोटे-छोटे दुकानदारों और छोटी पूँजी का धंधा करने वालों को 'विकास' के नाम पर पुलिस बल के सहारे नगरों और महानगरों से उजाइने के दौर चले। इनके विरोध के संघर्षों के चलते इस व्यापक समाज को लोकविद्या-समाज के अभिन्न अंग के रूप में पहचानने में मदद मिली। इन सभी समाजों में परिवार यह मात्र सामाजिक इकाई ही नहीं बल्कि उत्पादन की इकाई भी है। इन सभी समाजों के परिवारों में महिलाओं की भूमिका उनके ज्ञान की विशिष्टता के साथ आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-दार्शनिक आदि पक्षों में मुख्य रही है। महिलाओं की इस भूमिका को 'विकास' के भ्रम में उलझे स्त्री आन्दोलन (जो पढ़ी-लिखी महिलाओं तक ही सिमटा रहा) ने कोई तवज्ज्ञों नहीं दी और सरकारों ने अनदेखा किया। यह स्त्री-समाज लोकविद्या-समाज का मौलिक और सक्रिय हिस्सा है। इन सब के साथ समाजों में बसे लोक-कलाकार लोकविद्या-समाज के अभिन्न अंग हैं। साहित्य, कविता, कहानी, गीत, संगीत, नृत्य, नाट्य, शिल्प, चित्रकला आदि माध्यम से ये कलाकार लोकविद्या और उसके दर्शन को निखारने, संप्रेषित और संवर्धित करने तथा उसे लोक सम्मत मूल्यों के रूप में

सामान्य जीवन में ज़ज्ब करने का कार्य करते हैं। ये सब मिलकर लोकविद्या-समाज बनाते हैं। आज्ञाद भारत में ये ही समाज निरंतर विस्थापित किये गए और ये ही गरीब व संसाधनहीन रहे हैं। किसान आन्दोलन ने भूमिधर, कलाधर और श्रमधर के नाम से जिन समुदायों को इकट्ठा देखा था उन्हीं की पहचान लोकविद्या-समाज नाम से ज्ञानी समाज के रूप में की जा रही है और उनके ज्ञान यानि लोकविद्या में उनकी बहुत एकता के सूत्र पहचानने का आग्रह रखा जा रहा है।

यह गौर करने की बात है कि मात्र विस्थापित और गरीब होना ही इन समाजों की पहचान नहीं है। लोकविद्या-समाजों की पहचान स्थान, धर्म, जाति, व्यवसाय, सम्प्रदाय से भी बंधी नहीं है। लोकविद्या-समाज हर तरह की विविधता से पूर्ण है।

इन सभी समाजों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि व्यवहारों में विविधता है, लेकिन ये सभी समाज अपनी विद्या, लोकविद्या, जिसे वे अपने समाज और सहयोगियों से प्राप्त करते हैं, के बल पर अपनी जीविका चलाते हैं। इस विद्या को अर्जित करने में सरकारों का सहयोग नगण्य रहा है। यही नहीं लगभग सभी आधुनिक सत्ताओं/सरकारों द्वारा इन समाजों के ज्ञान (लोकविद्या) को निकृष्ट करार दिया गया और इनके रोजगार, रहने के स्थान, संसाधन और समाज से इन्हें लगातार बेदखल किया जाता रहा।

लोकविद्या-समाज की आबादी इस देश की आबादी के ८० फीसदी से अधिक ही होगी लेकिन न इनकी कोई राजनीति है और न इनकी कोई राजनीतिक पार्टी। किसान आन्दोलन के बड़े-बड़े जमावड़ों, संघर्षों और पंचायतों के बावजूद इनकी कोई राजनीति नहीं बनती। कारीगर और आदिवासी समाजों का भी यही हाल है। वर्तमान किसान आन्दोलन ने एक बहुत बड़ी सीख यह दी है कि राजनीति का वर्तमान रूप नैतिक समाजों के संगठन का आधार नहीं बन सकता और यह मनुष्य, मनुष्यता और प्रकृति के विनाश की नीतियों को ही आकार दे सकता है। इस आन्दोलन ने संवेदनशील लोगों को ललकारा है कि वे समाज और उसकी गति की किताबी समझ के घेरे से बाहर आयें।

तो फिर यह किसान आन्दोलन किस तरह के समाज संगठन की ओर संकेत करता दिखाई दे रहा है? और ऐसे समाज के संगठन का ज्ञान-आधार क्या है, इस बारे में क्या कोई संकेत है?

२. लोकविद्या बनाम साइंस

वर्तमान किसान आन्दोलन ने लोकविद्या-समाजों के ज्ञान (लोकविद्या) को प्रखरता के साथ सामने लाया है। सरकार के साथ वार्ता के दौरान जब यह सुझाव आया कि किसान कृषि विशेषज्ञों की कमेटी से वार्ता करें तो किसानों ने साफ़ मना करते हुए कहा कि खेती के बारे में हमसे ज्यादा कौन जानेगा? अपने 'ज्ञान' पर किसानों का आत्मविश्वास आन्दोलन की जान बन गया। किसान संगठनों के नेतृत्व ने सरकार से धीरज के साथ संवाद के कई चक्र चलाये। सरकार, प्रशासन और मीडिया की ज्यादतियों के बावजूद पूरा आन्दोलन अहिंसक बना रहा। जाडे-गर्मी-बरसात की विपरीत स्थितियों का हिम्मत के साथ मुकाबला करते हुए आन्दोलन के स्थान पर स्वच्छता, रहने-खाने की व्यवस्थाओं का संगठन, संत-वाणी के आधार पर न्याय, त्याग और भाईचारा का निर्मल आचरण पूरी शिरकत और निष्ठा के साथ दिखाई देता रहा। क्या इन कार्यों और आचरण का ज्ञान और आन्दोलन के विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं है? क्या 'न्याय, त्याग और भाईचारा' जैसे भावों को 'ज्ञान' का अनिवार्य अंग माना जाना चाहिए? किसान आन्दोलन ने ये सवाल उठा दिए हैं। ये बातें लोकविद्या-समाज के ज्ञान के आधारों को प्रकाशित कर रही हैं।

ज्ञान, राजनीति और वित्त व्यवस्थाओं का जो गठबंधन आज है वह निश्चित तौर पर लोक विरोधी है। इस व्यवस्था के ज्ञान का आधार साइंस में है। साइंस का संगठित-ज्ञान संवेदनशून्य और भावशून्य होने में गर्व महसूस करता रहा है। यही नहीं नैतिक मूल्यों की कसौटी पर कसे जाने से यह एकदम इनकार करता रहा है। यही वजह है कि कोरोना महामारी के दौरान चिकित्सा संस्थाओं की मनमानी व सरकारों और प्रशासनिक व्यवस्थाओं की संवेदनशीलता के चलते करोड़ों लोगों की रोज़ी रोटी छीन कर उन्हें बेदखल करने का निर्णय लेने में तनिक देर नहीं लगी। वैश्विक बाज़ार, पूँजी और तकनीकी के नए रूपों का अवतार उस ज्ञान का ही नतीजा है, जिसका नैतिक मूल्यों और संवेदनाओं से कुछ लेना-देना नहीं है। साइंस-राजनीति-बाज़ार के इस लोकविरोधी गठबंधन को एक साथ चुनौती देने की ज़रूरत है।

साइंस का ज्ञान हमें इस जगत की वस्तुओं की बनावट और प्रक्रियाओं के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी देता है। इस जानकारी का हमें उपयोग भी है, लेकिन दुनिया केवल इसी के मार्फत न तो जानी जा सकती और न केवल इस

समझ के बल पर जीवन ही जिया जा सकता है। भाईचारा, न्याय और त्याग के भावों से लैस होकर दुनिया को समझने में और जीवन को संगठित करने से दुनिया का रूप कुछ और ही तरह का दिखाई देगा और जीवन भी खुशहाल होगा।

साइंस भौतिक जगत की समझ बनाने में ‘भावों’ को गैर ज़रूरी मानता है, इन्हें नकारता है। वह दुनिया की समझ के सिद्धांत बनाते समय मनुष्य की उपस्थिति या दखल को ही नकारता है। ऐसे में ‘भाव’ के मार्फत जो ज्ञान मनुष्य को मिलता है वह साइंस से हासिल नहीं किया जा सकता। भाईचारे का ‘ज्ञान’ साइंस से हासिल नहीं हो सकता। आज साइंस के अत्यंत संगठित अवस्था में तो यह असंभव मालूम पड़ता है।

धर्म के संगठित और ठेकेदारी के रूप में सत्य और ज्ञान उसे छोड़कर चले जाते हैं, शेष जो रह जाता है, वह अन्धविश्वास ही कहा जा सकता है ! ऐसे संगठित धर्म को आसानी से राज्यसत्तायें और आर्थिक शक्तियाँ अपने हित में इस्तेमाल करती रही हैं। आज क्या साइंस का हाल भी यहीं नहीं है ? उसे भी तो ‘सत्य’ और ‘ज्ञान’ छोड़ गया है। संवेदना और पर-पीड़ा से तो साइंस का दूर-दूर से भी रिश्ता नहीं रहा। साइंस के शिक्षा व शोध संस्थानों (विश्वविद्यालय) का सत्ता और बाजार से गठबंधन का लोकविरोधी रूप भी सामने आ गया है।

इसके विपरीत लोकविद्या भावपूर्ण ज्ञान है। सृष्टि में जो अनेकानेक वस्तुएं (जड़-चेतन) हैं और उनके बीच जो सम्बन्ध व क्रियाएं होती रहती हैं, वे जीवों में अनेक तरह के भाव पैदा करते हैं। ये भाव समाज और व्यक्ति के लिए प्रेरणा के स्रोत बनते हैं। दुनिया की अधिकांश सभ्यताओं में इन भावों को सृष्टिकर्ता के सन्देश के रूप में माना जाता रहा है। इसलिए इन भावों को उद्दीप करना, संवर्धित करना, उनका स्वागत करना, और इन सबके मार्फत जीवन को सृष्टि के साथ लय में लाने के प्रयास किये जाते रहे हैं। लगभग सभी सभ्यताओं में जीवों के व्यवहार और सामाजिक जीवन को गढ़ने में इन भावों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है और कभी कभी निर्णायक भी। यह मान्यता रही कि ‘भाव’ नैतिक मूल्यों को गढ़ने के स्रोत होते हैं और भौतिक दुनिया की समझ बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समझ के विषय, सन्दर्भ, पद्धति, प्रयोजन, प्रयोग-उपयोग के प्रकार, मात्रा व मूल्य तक तथ करने में ये ‘भाव’ महत्वपूर्ण भूमिका में माने जाते रहे हैं। हाल ही में हुए किसान आन्दोलन के पूरे दौर में लोकविद्या में निहित इस भावपूर्ण ज्ञान का दर्शन होता है।

लोकविद्या-समाज और जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने का उनका ज्ञान जीवन की ठोस परिस्थितियों में विकसित होता है। जीवन, ज्ञान, संसाधन, उत्पादन आदि एक दूसरे के पूरक होते हैं। जीव, जड़ और पर्यावरण को दुःख देने वाली क्रियाओं के प्रति यह समाज सजग बोध रखता है। कर्बीर की वाणी में **सौई वहीं पीर है, जो जाने पर पीड़।**

किसान, कारीगर और आदिवासी समाजों के पास ऐसे ही ज्ञान का भण्डार है। इसे ही लोकविद्या कहा जा रहा है।

लोकविद्या समाज के सारे ही कार्यक्षेत्र जीवंत ज्ञान के स्रोत रहे हैं। जीवंत ज्ञान की एक विशेषता यह होती है कि कर्ता, यानि आदिवासी, किसान या कारीगर, खुद क्रिया में हिस्सा ले रहे विविध तत्वों, जीवों, पानी, मिट्टी, हवा, धूप और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कारकों के साथ संवाद साधता है। यह उसी तरह का है जैसे नाटक में अभिनयकर्ता सतत दर्शकों के साथ संवाद में रहता है। ऐसे में किसानी और कारीगरी का ज्ञान, क्रिया और उत्पाद नित नवीन तो होते ही रहते हैं साथ ही वे मात्र कर्ता के कार्य के नतीजे नहीं रह जाते, बल्कि इतर अनेक कारक इनके नवीनीकरण-संवर्धन आदि में सहभागी होते हैं। इस प्रक्रिया से प्राप्त ज्ञान कर्ता को अहंकारशून्य बनाने में सहयोग करता है। किसान, कारीगर, आदिवासी समाजों में इस ‘भावपूर्ण ज्ञान’ के दर्शन होते हैं। जीवन और जीविका के कार्यों में शामिल तमाम कारकों के साथ भाईचारे और प्रेम का सम्बन्ध बनाकर वे उत्पाद को तैयार करते हैं। यह इनके ज्ञान (लोकविद्या) की विशेषता है, जिसे साइंस नकारता है।

लोकविद्या-समाज की एकता का आधार लोकविद्या में है, इसके तर्क, मूल्य, संगठन और सत्ता के भावपूर्ण ज्ञान में है। भाईचारा या ‘ढाई आखर प्रेम का’, यह मात्र उपदेश-वाक्य नहीं है, बल्कि यह समाज-संगठन का एक बुनियादी विचार है, एक न्यायपूर्ण लोकराज्य का राजनीतिक विचार है। संत-परंपरा ने भाईचारे को प्रेम से सिंचित ज्ञान के रूप में समाज में गूँथा है। समय की मांग है कि इन समाजों को गुरु मान कर इनकी और इनके ज्ञान (लोकविद्या) की अगुआई में समाज के नवनिर्माण का रास्ता बनाया जाय। किसान आन्दोलन ने इसका रास्ता खोल दिया है।

३. किसान आन्दोलन बनाम राजनीति

बच्चों को एक लोककथा सुनाई जाती थी, जिसमें अगर देश का राजा (राजसत्ता) अन्यायी हो जाय तो उस देश में मौसम भी समय से नहीं आते, खेतों में पैदावार घट जाती है, वृक्षों के फल जहरीले हो जाते हैं, प्राकृतिक आपदाएं और संकट बढ़ते जाते हैं, झूठ, अपराध और अत्याचार का राज फैलता है। तब दोनों के बीच का सम्बन्ध समझ नहीं आता था, और न इस तर्क पर यकीन होता था। लेकिन इस किसान आन्दोलन ने आज सत्ता के स्वरूप को पूरी तरह उधार कर इस लोक कथा को सत्यकथा बना दिया है। कृषि कानूनों को पारित करने से लेकर पूरे आन्दोलन के दौरान सरकार और राजनीतिक दलों का जो रवैया रहा, जितना झूठ बोला गया, उसने इस राजनीतिक व्यवस्था पर प्रश्न लगा ही दिया है।

किसान आन्दोलन ने लोकहित में सोचने और काम करने वालों के लिए आज एक व्यापक फलक फैला दिया है। मनुष्य की हैसियत, उसके ज्ञान, कार्य और अस्तित्व से जुड़े दार्शनिक सवालों से लेकर रोजमर्रे के जीवन से जुड़े सवाल, जैसे जीविका, आय, सम्मान, न्याय, संवेदना, सहजीवन आदि और इसके लिए आवश्यक व्यवस्थायें आदि जैसे बेहृद ज़रूरी मुद्दों को विचारधाराओं के बंधनों से खोल कर किसान आन्दोलन इन्हें खुले मैदान में ले आया है।

जीवन, समाज और देश ‘फायदे’ के आधार पर चलेगा या ‘न्याय’ के बल पर? मनुष्य समाज के ‘ज्ञान और श्रम’ की लूट से एकत्र पूँजी, आम जनता की ‘भूख’ पर राजनीति और ‘रोटी के व्यापार’ की व्यवस्थाओं का विकास क्या मनुष्य सभ्यता के लिए कभी भी आदर्श हो सकते हैं? पूँजी, राजनीति और व्यापार के गठबंधन पर आधरित इस मायावी दुनिया की चमक हमें अंधा ही नहीं बना रही बल्कि दिमाग, दुनिया और जीवन को ज़हरीला बना रही है, अमानवीय बना रही है। शासकों की मायावी दुनिया को बनाने की यह ज़िद सबको ले डूबेगी। किसान आन्दोलन के विचार, व्यवहार, वक्तव्यों और संगठनात्मक प्रकारों में ‘पूँजी, व्यापार और राजनीति’ के इसी गठबंधन के विरोध की गँज है। यह एक नये विचार और समाज के पुनर्निर्माण की गँज है, इसे वे ही लोग सुन पाएंगे जो वर्तमान दुनिया की मायावी चमक से न ललचायेंगे और न विचारधाराओं के भ्रामक जाल में फँसेंगे। किसान आन्दोलन एक बौद्धिक सत्याग्रह के लिए आवाहन करता नज़र आता है; एक ऐसा सत्याग्रह

जो सबकी खुशहाली और सम्मान को लक्ष्य बनाकर दर्शन, ज्ञान, आर्थिकी, सेवा और शासन की व्यवस्थाओं को पुनर्संगठित करने की लोक क्रियाओं को गति दे सके।

आजाद भारत का किसान आन्दोलन अपने जन्म से ही 'राजनीतिक' नहीं रहा है। राजनीति तो थोपी गई व्यवस्था है। राजनीति स्वभाव से ही बलात्कारी रही है। पॉलिटिक्स या 'राजनीति' शब्द का मतलब सामान्यतः 'राज की नीति' से हम ले लेते हैं और यह मान लेते हैं कि यह लोगों की भलाई के लिए नीति बनाने व लागू करने वाली व्यवस्था है। 'राजनीति' शब्द 'पॉलिटिक्स' का अनुवाद मात्र है, इसकी व्यवस्था के सिद्धांत और कार्य एकदम भिन्न उद्देश्य के लिए बने हुए थे। हजारों साल पहले यूनान में पॉलिटिक्स मात्र नगर-व्यवस्था के सञ्चालन का प्रकार रहा, जो जाहिर है किन्हीं अन्य समाज-व्यवस्थाओं के अधिकारों के बलात् लूट के बल पर ही संभव हो सकता था। यूरोप के देशों ने इसी राजनीति को विकसित किया। यह बात समझने की है कि गांधीजी ने इस 'राजनीति' की व्यवस्था को सिरे से नकारा था। गांधीजी ने ही नहीं, आजाद भारत में किसान संगठनों ने भी 'राजनीति' को नकारा है। वर्ष २०२०-२१ के किसान आन्दोलन ने खुद को अराजनीतिक ही घोषित किया। यह भी न भूलें कि आजादी के बाद किसान आन्दोलन के नेता, महिला आन्दोलन के नेता, आदिवासी समाजों के नेता समय-समय पर यह मानते रहे हैं कि इनके यानि किसानों, महिलाओं, आदिवासी आदि समाजों के राजनीतिक दल नहीं बनाये जा सकते। कारीगर समाजों की स्थिति इनसे अलग नहीं है। लोकविद्या-समाज अराजनीतिक है।

लेकिन अराजनीतिक होने का मतलब यह नहीं है कि लोकविद्या-समाज अराजक है, बल्कि इसके संगठन और सञ्चालन का इसका अलग प्रकार है। लोकविद्या-समाज या बृहत् समाज कई छोटे-छोटे स्वायत्त समाजों से बना है। इन लघु स्वायत्त समाजों के अपने आर्थिक-सामाजिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों के ज्ञान, मूल्य, संगठन और संबंधों को बनाने के अपने तरीके हमेशा से रहे हैं, जो अपनी-अपनी पंचायतों के मार्फत नियमित होते रहे हैं और आज भी कम अधिक पैमाने पर हो रहे हैं। आज भी सामान्य लोग अपनी पहचान

‘समाज’ के नाम से ही करते हैं लेकिन पढ़े-लिखे लोग, प्रशासन और राजनैतिक दल उनकी पहचान ‘जाति’ से करते हैं। वास्तव में आधुनिक राज्य और राजनीति जनता को विभाजित कर ही अपना शासन चला पाते हैं, वे ही लोकविद्या-समाज को जातियों में बंटे हुए समाज के रूप में देखने का आग्रह रखते हैं। समाज को समझने के शिक्षा व शोध संस्थानों से निकले सिद्धांत, विचार और तरीके समाज को बांटकर देखने में रहे हैं। इस तरह से बॉट कर देखने से समाजों को एक दूसरे से लड़ाने की ज़मीन तैयार करते रहे हैं।

आजाद भारत में पश्चिमी देशों की तर्ज पर आधुनिक राज्य तो स्थापित हो गया, लेकिन वहाँ की तरह यहाँ का समाज ‘राजनीतिक-समाज’ नहीं बन पाया। पश्चिमी देशों की तरह हमारी केन्द्रीय सत्ता, सरकारों, राजनीति, और राजनीतिक दलों के पास गुलाम उपनिवेश तो नहीं थे कि जहाँ की संपत्ति लूटकर राज के खर्च चल सके। इसके लिए देश के उत्पादक समाजों को यानि लोकविद्या-समाज को ही लक्ष्य कर लिया गया। आजाद देश की राज्यसत्ता के लोकविद्या-समाज के साथ सम्बन्ध शुरू से ही उलटे बने और दिन-ब-दिन अधिक उलटे होते गए। आज किसान आन्दोलन ने लोकविद्या-समाजों की एकनुट शक्ति के बल पर ही आन्दोलन को मंजिल तक पहुँचाया है। राजनीति से अधिक उन्हें समाज की शक्ति पर भरोसा था। और यह शक्ति संख्या-बल की तो थी ही लेकिन उससे कहीं ज्यादा इन समाजों के ज्ञान, आत्मबल और सत्य की पक्षधरता के चलते थी। किसान आन्दोलन के अराजनीतिक समूहिक नेतृत्व ने हमारे समाज की बुनियादी बनावट के विचार और सिद्धांत को प्रकाशित किया है। संयुक्त किसान मोर्चे का गठन इस किसान आन्दोलन की समझ का मूर्त रूप है। किसान आन्दोलन का यह बहुमूल्य नतीजा कहा जायेगा। क्या पढ़े-लिखे संवेदनशील लोग इसे विकसित करने में अपना योगदान करेंगे?

किसान, कारीगर, महिलायें, तमाम सेवा कार्य में लगे लोग, आदिवासी समाज, ठेला-पटरी के दुकानदार, आदि, ये सारे समाज, राजनीतिक नहीं होते हैं। इन समाजों का चरित्र, संगठन, कार्य, जीवनमूल्य, स्वभाव, आदि बलात् हक्क जताने के नहीं होते। निरंतर एक नैतिक रिश्ते को मान्यता देने की प्रवृत्ति इनमें होती है। गांधीजी के विचार और कार्यों में इन समाजों की इसी शक्ति की

अभिव्यक्ति रही। गांधीजी के आंदोलनों में इन समाजों की सक्रियता का आधार भी इसी में रहा। उनकी 'स्वराज' की अवधारणा भी इन्हीं अराजनीतिक समाजों की सोच, स्वभाव और सक्रियता पर आधारित थी। आजादी के बाद राजनीति के छा जाने से इन सारे समाजों के अधिकार बलात् छीने गए और आज भी तेज़ी से छीने जा रहे हैं। यह स्पष्ट है कि 'राजनीति' अपने मूल स्वभाव में नैतिक नहीं होती है। लेकिन यह भी सच है कि देश के किसान संगठन बार-बार मजबूर होकर राजनीति की शरण में जाते रहे हैं और वहाँ बुरी तरह मात खाते रहे हैं। उनकी ये मजबूरी शायद इसलिए भी है कि संवेदनशील लोकपक्ष में कार्य करने वाले सामाजिक कार्यकर्ता, विचारक और विभिन्न क्षेत्रों के नेतृत्वकर्ताओं ने किसान आन्दोलन द्वारा लुटाई बहुमूल्य सामाजिक, वैचारिक, दार्शनिक, सांगठनिक ज्ञान-राशि के भण्डार को अनदेखा कर रखा है।

किसान आन्दोलन की सफलता केवल इसमें नहीं है कि तीनों कृषि कानूनों को वापस लेने के लिए सरकार बाध्य हो गई। किसान आन्दोलन ने इस देश की लोकविद्या परम्परा को, समाजों की स्वायत्त पहचान को, संगठन के देसी तरीकों और विचारों को और सबसे महत्वपूर्ण नैतिक मूल्यों को सार्वजनिक दुनिया में पुनर्प्रतिष्ठित करने का सफल कार्य कर दिखाया है। संयुक्त किसान मोर्चा का गठन इस आन्दोलन की रणनीति का हिस्सा ही नहीं है, बल्कि इसे लोकविद्या-समाज की समाजनीति व संगठन के सिद्धांत और विचारों का कारण वाहक माना जाना चाहिए। संयुक्त किसान मोर्चा की तरह संयुक्त कारीगर मोर्चा, संयुक्त आदिवासी मोर्चा, संयुक्त मज़दूर मोर्चा आदि बनाने का मार्ग खुल गया है। भविष्य में लोकविद्या-समाज की एकता और संगठन का यह प्रकार अधिक समृद्ध हो इसके प्रयासों की ज़रूरत है। किसान, कारीगर, आदिवासी और छोटी पूँजी के दुकानदार समाजों की शक्तियों को पहचानने और संयोजित करने में ही इस भूमि की दर्शन और स्वशासन की परम्पराओं को पुनर्जीवित कर न्यायपूर्ण समाज के निर्माण की संभावना बनती है।



किसान आन्दोलन और अराजनीतिकता

किसान आन्दोलन की समकालीन समीक्षा १९८५-१९८७ पुस्तिका के 'प्राक्तन' से। १९८९ में छपी यह पुस्तिका 'मजदूर किसान नीति' में सुनील सहस्रबुद्धे द्वारा १९८५ से १९८७ के काल में लिखे गए लेखों का संकलन है।

राजनीति मनुष्य को उसकी सक्रियता से वंचित करती है। मालूम तो साधारणतः ऐसा पड़ता है कि राजनीति संभव ही तब होती है जब मनुष्य सक्रिय होता है। किन्तु यह माया है। राजनीतिक सक्रियता वास्तव में मानवी नहीं आसुरी है। यह मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य पर शासन करने के लोभ और दूसरों का कार्यफल हड्डपने के लालच को मूर्तरूप देने का साधन प्रपञ्च है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान गांधी का उदय इसी राजनीति को चुनौती के रूप में हुआ तथा भारत के लोग पुनः अपनी खोयी हुई सक्रियता के स्वामी हो सकेंगे इसकी संभावना अस्तित्व में आयी। किन्तु राजनीतिक स्वतंत्रता ही वह विशेष अवसर था जिसने सार्वजनिक जीवन की अराजनीतिक सक्रिय धारा को समाप्त कर दिया। श्री रामराजुलू, स्वामी सहजानंद और बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में हुए संघर्ष भुला दिये गये। राजनीतिक धारा एक बार फिर सर्वव्यापी हो चली। मनुष्य की सक्रियता का एक भ्रामक और आसुरी रूप स्वतः में ही अपने अस्तित्व का आधार बन चला। लेकिन अद्वैत तो हमेशा ही एक सैद्धांतिक माया का रूप रहा है अतः मायावी ध्रुव छँटे हैं और वास्तविक ध्रुव अस्तित्व में आ रहा है। राजनीति को एक बार फिर मौलिक चुनौती का सामना करना पड़ रहा है।

... देश में चल रहे किसान आन्दोलन ने इस प्रक्रिया की एक जबरदस्त शुरुआत की है।

... हम यह कहना चाहते हैं कि 'अराजनीतिक' की इस स्थापना के माध्यम से एक नये दर्शन की संभावना ने जन्म लिया है। हालांकि यह सच है कि कई किसान संगठन 'अराजनीतिक' शुरुआत के कुछ वर्षों बाद राजनीतिक हो गये किन्तु नये-नये संगठनों ने इस विचार को बनाए रखा। अब यदि सभी किसान संगठन राजनीतिक हो जायें तो भी अराजनीतिकता का विचार समाप्त नहीं किया जा सकता। एक नयी विचारधारा जन्म ले चुकी है। यह इस क्षेत्र में स्वदेशी दर्शन को आकार देने का प्रारम्भिक बिंदु है। अराजनीतिक की यह

कल्पना राजनीति के मौलिक विरोध पर आधारित है। यह किसी वैकल्पिक राजनीति की कल्पना नहीं है बल्कि इसमें राजनीति के विकल्प स्वरूप समाज परिवर्तन और संचालन की एक नयी दृष्टि का सन्देश है।

... राजनीतिक समाज उसे कहते हैं जिसमें एक ऐसी केंद्रीकृत सत्ता होती है जो समाज में व्यवहार के नियमों को बनाती है और उन्हें लागू करवाती है तथा इस बात को आम मान्यता प्राप्त होती है कि इन नियमों को लागू करवाने के लिये इस सत्ता द्वारा बल का प्रयोग न्यायसंगत है। जिन समाजों में ऐसी कोई केंद्रीकृत सत्ता नहीं होती उन्हें अराजनीतिक समाज कहा जाता है। ...

किसान आन्दोलन अपनी ‘अराजनीतिक’ की अवधारणा के जरिये इस दूसरे किस्म के समाज की ओर अपना सङ्घान व्यक्त करने के साथ-साथ आज के भारतीय समाज में अराजनीतिक समाज और उसके संचालन के लिए अनुकूल तत्वों का प्रतिनिधित्व भी करता है। दूसरे शब्दों में अराजनीतिकता किसान की एक चाह होने के साथ-साथ उसकी वास्तविक स्थिति, मानसिक और भौतिक, की एक उत्कट अभिव्यक्ति भी है। यह प्रतिनिधित्व और यह अभिव्यक्ति ही इस कल्पना को वास्तविक बनाते हैं तथा इस क्षेत्र में एक नये स्वदेशी दर्शन के आकार ले पाने की संभावना उजागर होती है।



**किसान कङ्ज माफ़ी नहीं
कङ्ज से मुक्ति चाहता है।**

-शरद जोशी

समाज परिवर्तन तथा न्याय, त्याग और भाईचारा

कृष्णराजुल

मानव समाज के इतिहास में परिवर्तन के हर संघर्ष में न्याय, त्याग और भाईचारे के मूल्यों को सामान्य जन-जीवन के संदर्भ में नए सिरे से परिभाषित किया गया है। बुद्ध, महावीर, बसवेश्वर, गुरु गोबिंद सिंह, महात्मा गांधी सभी के कार्यों में इन मूल्यों की इस तरह की सोच देखने को मिलती हैं। समाज परिवर्तन के अभियान का तकाजा आज यह है कि पूँजीवादी-बाजारी विश्व-दृष्टि विरस्थापित हो और उसका स्थान ज्ञानस्थ लोकविद्या धर्म की विश्व-दृष्टि ग्रहण करे। सार्वजनिक संवाद की भाषा ज्ञान और धर्म की होनी होगी। वस्तु और सेवा के विनिमय से पैदा विषमता पर काढ़ पाने के लिए दोनों के मूल्य निर्धारण में ज्ञान-मूल्य का समावेश होना होगा। ज्ञान-समानता का विचार इन सभी विचारकों ने न्याय के अहम पहलू के रूप में रखा है। दुनिया भर में जन-आन्दोलन फिर एक बार उन स्थानों और मौकों का अनावरण कर रहे हैं, जिनकी माँग न्याय, त्याग और भाईचारे की धारणाओं को फिर एक बार पुनर्परिभाषित करने की है।

पिछले ढाई हजार वर्षों से समाज परिवर्तन की हर लड़ाई, हर संघर्ष ने न्याय, त्याग और भाईचारा के मूल्यों को सामान्य जन-जीवन के संदर्भ में नए सिरे से परिभाषित किया है। हमारे समाज में आम तौर पर संतों ने अपनी सार्वजनिक गतिविधियों के माध्यम से इस कार्य को साकार किया। हमारे देश में न्याय का अर्थ उन दोनों धारणाओं से है जिन्हें आधुनिक दुनिया में तर्क (logic) और न्याय (justice) इन शब्दों में समाया जाता है। इसी तरह त्याग का संबंध आधुनिक त्याग (sacrifice) और कर्तव्य (duty) दोनों से है। भाईचारा संपूर्ण जैव-जगत के साथ है। आम लोगों ने इन मूल्यों को स्वीकार किया और रोजमर्रा की सामाजिक क्रियाओं के लिए पोषक परिवर्तन हुए। संभवतः इसके साथ ही आनेवाले समय में तत्कालीन समाज में स्वीकृत सनातन धर्म के अंतर्गत कई पंथ अस्तित्व में आये।

बुद्ध, महावीर और आगे बसवेश्वर, गुरु गोबिंद सिंह, सभी के कार्यों में न्याय, त्याग और भाईचारा के मूल्यों की इस तरह की व्याख्या देखने को मिलती है। निकट भूतकाल में महात्मा गांधी ने दैनंदिन सामान्य जीवन के संदर्भ

में इन्हीं मूल्यों को सार्थक करने के रास्ते दिखाए। हर अवसर पर तत्कालीन समाज में अपने नए अर्थों से समृद्ध होकर ये मूल्य परिवर्तन के आन्दोलनों का आधार बने। साथ ही ऐसे सामाजिक सम्बन्ध और व्यवस्थाएं प्रस्थापित हुईं जो इन मूल्यों को ठोस रूप दे सकें। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के बढ़ते वर्चस्व, और इसके साथ हुए पर्यावरण के नाश ने इन मूल्य-परक सामाजिक ताने-बाने की व्यवथाओं को भारी तनाव की स्थिति में ला खड़ा किया। नतीजा यह है कि इन मूल्यों पर टिके सामाजिक रिश्ते और उनके प्रति श्रद्धा दोनों का अस्तित्व लोक-समृद्धि से छूटता जा रहा है।

न्याय, त्याग और भाईचारा : ज्ञान-आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में

सामाजिक जीवन को समझने में एक मौलिक मान्यता यह है कि आपसी संबंधों के सारे पहलू व्यक्तियों के बीच पारस्परिक क्रिया और समाजों के आपसी व्यवहार से आकार पाते हैं, और इसके साथ ही बृहत् समाज की परिवर्तनशील विश्व-दृष्टि से निर्देशित और परिभाषित भी होते हैं। न्याय, भाईचारा और स्वराज्य की धारणायें परस्पर आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक लेन-देन के माध्यम से बनती-बिगड़ती रहती हैं। वर्तमान समय में हर क्षेत्र, प्रकार और व्यक्ति के आपसी रिश्ते पूँजीवादी-बाजार की विश्व-दृष्टि के मार्फत तय हो रहे हैं। समाज परिवर्तन के अभियान का तकाजा यह है कि पूँजीवादी-बाजारी विश्व-दृष्टि विस्थापित हो और उसका स्थान ज्ञानस्थ लोकविद्या धर्म की विश्व-दृष्टि ग्रहण करे।

सामाजिक परिवर्तन के अभियान

उन समाजों में, जो लोकविद्या पर आधारित नहीं होते, धर्म की कोई अवधारणा नहीं होती। ऐसे समाजों में बहुसंख्य लोगों की आवाज़ दबा दी जाय, इसकी निश्चित संभावना हमेशा बनी रहती है। बहुसंख्य लोगों की बात क्षीण करने का कार्य अपनी टिप्पणियों और विश्लेषणों के माध्यम से वे विद्वान करते हैं, जिनकी तालीम उन ज्ञान-परम्पराओं में हुई होती है, जो जाने-अनजाने पूँजीवादी-बाजार के मूल्यों से प्रभावित होती हैं। लोकविद्या धर्म इस स्थिति से उबारता है क्यों कि इसमें न्याय, त्याग और भाईचारे के मूल्यों का बुनियादी स्थान है।

सामाजिक परिवर्तन के अभियान में सार्वजनिक संवाद की भाषा विद्या और धर्म की होनी होगी। इन शब्दों का अर्थ सभी समझते हैं - भले ही अपने

तरीके से ही क्यों न हो। इस समझ का न्याय, त्याग और भाईचारे के मूल्यों से सकारात्मक रिश्ता है। सार्वजनिक समझ में इन मूल्यों के अहम स्थान के आधार पर परस्पर व्यवहार और संवाद की वे मान्यताएं रूप ले सकती हैं, जो जीने और जीवनयापन के अधिकारों को वैश्विक ज्ञान-समाज में स्थापित कराती हैं।

१. इसकी शुरुआत हर व्यक्ति के उस अधिकार को सुनिश्चित करके की जा सकती है जिसके आधार पर वह खुद, या अपने साथियों के साथ मिलकर अपने ज्ञान के बल पर जीवनयापन की क्रियाओं को अंजाम दे सकता है।
२. वस्तु और सेवा के विनिमय से पैदा विषमता पर काबू पाने के लिए वस्तु और सेवा के मूल्य निर्धारण में ज्ञान-मूल्य का समावेश होना होगा। ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सभी प्रकार की ज्ञान-विधाओं तथा ज्ञानाधारित क्रियाओं की मौलिक समानता की मान्यता के बल पर ज्ञान-मूल्य की धारणा को बनाए रखना भावी राजनीतिक दृष्टि में असंभव न होगा।

ज्ञान-समानता की धारणा- न्याय का एक अहम पहलू

१. बसवेश्वर से

बसवेश्वर व्यक्तिगत काबिलियतों में निहित असमानता नहीं, बल्कि उन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और आध्यात्मिक रिवाजों से जन्मी विषमता के खिलाफ थे जिनसे व्यक्तित्व-विकास अवरुद्ध होता है। इस मनुष्य-निर्मित विषमता की जड़ों पर उन्होंने वैचारिक आधात किया।

श्रम और व्यवसाय के बारे में ‘कायक’ के रूप में बसवेश्वर ने ठोस धारणा दी। कायक सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विषमता समाप्त करने का औजार है। कायक श्रम के बारे में सोचने की भौतिक नहीं बल्कि आत्मिक दृष्टि है। हर प्रकार का श्रम इस दृष्टि में सम्मान, गौरव और आत्मिक महत्व का स्थान पाता है। कायक की प्रेरणा न मुनाफ़ा है, न ही वह धन-संचय या जमाखोरी को प्रोत्साहित करता है।

२. गांधीजी की आत्मकथा से रस्किन के ‘अंटु दिस लास्ट’ का सार

‘किसी वकील का काम उतना ही मूल्यवान है, जितना किसी नाई का। अपने काम के आधार पर अपना जीवन-निर्वाह सभी का अधिकार है।’

‘श्रम का जीवन, अर्थात् जमीन जोतने वाले किसान और हस्तशिल्पकार का जीवन वह जीवन है जो जीने लायक है।’

‘हमें जिस लक्ष्य का रास्ता ढूँढ़ना है वह एक तो समान वेतनों का है, और दूसरे, वह जो निश्चित संख्या के कामगारों को रोजगार देता रहे, उनके द्वारा निर्मित उत्पाद की तात्कालिक क्षणिक माँग चाहे जो हो।’

३. चेंगलपट्टू के आंकड़ों का सार प्रस्तुत करते धरमपाल जी के ‘परम्परा, पुनरारंभ, और स्वतंत्रता पर लेख’ से

‘क्षेत्र के उत्पाद को साझा करने की सूझ-बूझ से रची गई प्रणाली की बदौलत क्षेत्र के तमाम समाजों और व्यावसायिक समुदायों में आर्थिक और सांस्कृतिक वैभव का समान बँटवारा सुनिश्चित हुआ है।’

४. ‘द गार्जियन’ नियतकालिक में पॉल मेसन के लेख ‘पूँजीवाद के अंत की शुरुआत हो चुकी है’ से

‘एसएएस इंस्टिट्यूट ने २०१३ में कराये एक अभ्यास के निष्कर्ष के अनुसार डेटा का मूल्य तय करने के लिए अगर आप उसे इकट्ठा करने में लगी लागत, या उसकी मार्केट में कीमत, या उसके बल पर हो सकने वाली भावी आय जानने का प्रयास करते हैं, तो आप पाएंगे कि इनमें से किसी का भी निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अपने शेयर धारकों को डेटा के मूल्य के बारे में आश्वस्त कराने में डेटा कंपनियों को लेखांकन के ऐसे गुरुओं का इस्तेमाल करना पड़ता है जिसमें गैर-आर्थिक फायदों और जोखिमों का समावेश हो। ... डेटा-उत्पादों में अन्तर्निहित ज्ञान- जो सांख्यिकी की प्रणालियों के उपयोग से उसमें से निचोड़ा जा सकता है- इन उत्पादों में लगे भौतिक संसाधनों की अपेक्षा उनको मूल्यवान बनाता है। लेकिन, यह तो उपयोगिता का मूल्य हुआ, न कि उसका विनिमय मूल्य या संपत्ति-मूल्य ... वह जानकारी जो समाज के लिए हितकारी है, जो उपयोग हेतु मुक्त है, जो निजी नहीं, जिसकी कोई कीमत नहीं और जिसका शोषण संभव नहीं।’

त्याग और मौलिक कर्तव्य की धारणाएं

१. विवेक, न्याय और नैतिकता की व्याख्या करनेवाले वल्लवर रचित ग्रन्थ ‘तिरुक्कुरल’ से

‘पोरुल’ (नैतिकता से अर्जित धन) और ‘इम्बम’ (इच्छा-पूर्ति तथा उससे मिलने वाला आनंद) का लक्ष्य रखना ठीक है; पिर भी दोनों ‘अरम’ (धर्म) द्वारा निर्देशित हों, यह जरुरी है। वल्लवर का कहना है कि अरम हर व्यक्ति पर एक जैसा लागू है – वह पालकी ढोने वाला हो, या पालकी में बैठने वाला।

२. भगवद्गीता से

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन, अर्थात् फल की अभिलाषा रखे बिना अपने कर्म करो। गीता के इस श्लोक के अनुसार अपने व्यक्तिसाय, अपनी कला, अपने विज्ञान, या अपनी जीवनयापन की सभी क्रियाओं के प्रति पूरी तरह समर्पित रहना हर व्यक्ति का मौलिक कर्तव्य है। हमारे देश की परम्परा की यह मान्यता है कि अर्थ और काम में अन्तर्निहित तनाव है। दोनों का मार्ग निष्काम कर्म का है। मतलब यह हुआ कि तनाव से छुटकारा हर व्यक्ति द्वारा अपना कर्म मौलिक कर्तव्य मानकर किये जाने में है।

३. बसवेश्वर से

कायक के लिए जो प्रेरणा उचित है वह है दसोहा की प्रेरणा। दसोहा का अर्थ होता है आजीविका और समाज के लिए की गई कड़ी मेहनत। बसवेश्वर का मानना है कि दसोही ने खुद को समाज का सेवक मानकर चलना चाहिए। इसके मायने ये हुए कि निस्वार्थ सेवा से जो ऊपरवाले का है, वह उसे वापस करना है, और जो समाज से लिया वह समाज को।

कायक वह कर्तव्य है जिसके माध्यम से आप अपना निर्वाह करते हैं, और जो मिलता है उसे सबके भले के लिए लगाते हैं। दसोहा का सिद्धान्त कहता है कि चूंकि कायक हर व्यक्ति की न्यूनतम जरूरतों को पूरा करता है, कायक से अर्जित शेष उसे चाहिए कि समाज को दे, न कि उसे निजी संपत्ति के रूप में जमा करे। कायक अगर दसोहा की प्रेरणा से किया जाता है तो वह निजी संपत्ति जमा करने के लिए बढ़ावा नहीं देता। सभी मनुष्य अपने विवेक और गुणों में स्वाभाविकतौर पर एक जैसे ही होते हैं, और यह वांछित ही है कि यह स्थिति बनी रहे।

४. गुरु गोबिंद सिंह से

धरम दी कीरत करणी –जीवनयापन का अपना काम कर्तव्य मानकर करो।

दसवंद देणा – अपने अर्जित का दसवां हिस्सा दान दो।

लंगर परशाद इक रस वडणा – लंगर में अन्न बिना पक्षपात के बँटवाओ।

भाईचारा (सौहार्द्र) की धारणाएं

१. उपनिषद से

वसुधैव कुटुम्बकं – सारी धरती एक परिवार है।

गांधीजी के लिए समग्र विकास और हर प्राणीमात्र का आदर, तथा अहिंसा को श्रद्धा और मार्ग दोनों अर्थों में मान्यता के बल पर हर टकराव का अहिंसात्मक निराकरण वसुधैव कुटुम्बकं का ही विस्तारित रूप हैं।

२. महावीर से

महावीर की सीख का एक मध्यवर्ती सिद्धान्त है: ‘हर रूप में हिंसा का त्याग, और हर प्रकार के जीव के लिए आत्मीयता’। सारे जीव बराबर हैं, और सबसे एक जैसा प्रेम करना चाहिए— उनका आकार या रूप भिन्न ही क्यों न हो, या उनका आत्मिक विकास कम या ज्यादा ही क्यों न हो।

परिवर्तन के लिए सामाजिक कार्य

इन बातों से यह सहज ही समझ में आता है कि देश के विभिन्न हिस्सों में, या कहिये विश्व में हर जगह, जो भी सामाजिक परिवर्तन के बड़े आन्दोलन हुए, उन सभी ने समय समय पर न्याय, त्याग और भाईचारे की धारणाओं के नए रूपों में हुए आविष्कार से प्रेरणा ली। इन आविष्कारों ने नए पंथों के निर्माण के रास्ते भी खोले। अनुयायियों के त्याग से कई पंथ सदियों टिके भी रहे। पश्चिमी साइंस और तकनीकी तथा विशेषतया पूँजीवादी बाजार व्यवस्था ने इस स्थिति पर आधात किये।

भाईचारे के जिन अर्थों की हमने ऊपर बात की उनका हास, तिरस्कार और पदावनति का सीधा रिश्ता पर्यावरण हास से है, जो पूँजीवादी विकास प्रणाली का अपरिहार्य परिणाम है। विभिन्न समाजों और दुनियाभर के आदिवासियों तथा देसी लोगों में भाईचारे की जो अवधारणाएं विकसित हुई हैं उनकी समझ बनाने पर पर्यावरण आन्दोलकों ने हमेशा जोर दिया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दुनिया भर में जन-आन्दोलन फिर एक बार उन स्थानों और मौकों का अनावरण कर रहे हैं, जिनकी माँग न्याय, त्याग और भाईचारे की धारणाओं को नए सिरे से परिभाषित करने की है। उस किसान आन्दोलन ने जो चालीस वर्ष पूर्व उत्तर और दक्षिण के कई राज्यों में फैला, पश्चिमी ज्ञान-क्षेत्र से नाता जोड़ने वाली समाज परिवर्तन की विचारधाराओं से किनारा करके तमाम संतों की सीख में प्रेरणा और मार्गदर्शन की तलाश की। पिछले वर्ष से फिर खड़े हुए किसान आन्दोलन पर गुरु गोबिंद सिंह की सीख का बड़ा प्रभाव है। आन्दोलन में पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के किसान परिवारों ने बड़ी मात्रा में हिस्सेदारी की। इस दौरान लंगर, और रहन-सहन के स्थानीय इंतजाम इस सीख से प्रेरित संगठनों ने किये। मेरा मानना है कि एक साथ रहने-लड़ने की प्रेरणा इस विश्वास को दर्शाती है कि आन्दोलन का नेतृत्व गुरु गोबिंद सिंह की सीख से प्रेरित है: अपना कर्तव्य करो (फसल उगाओ), भाईचारे का बर्ताव करो (लंगर में अन्न साझा करो), सारे समाज के लिए न्याय की लड़ाई लड़ो। यह संभव है कि आन्दोलन को मजबूती से चलाने के लिए इस सीख को नए समकालीन रूपों में आगे भी ढाला जाता रहेगा। इसी संभावना में यह उम्मीद है की न्याय, त्याग और भाईचारे के बे नए आविष्कार देखने को मिलेंगे, जिन्हें आम लोग स्वीकार करेंगे। पूँजीवादी बाजार के अमानुष तरीकों से लोकविद्या समाज को उबारने की क्षमता जिसमें है ऐसी मानवीय मूल्य-प्रणाली, यानि लोकविद्या धर्म की बढ़ोत्तरी के लिए पर्दा उठ चुका है।



**ऐसा चाहौं राज मैं, जहाँ मिले सबन को अन्न।
छोट बड़े सभै सम बसें, रैदास रहें प्रसन्न ॥**

खाद्य संप्रभुता एक जीवन दर्शन है

वाया कम्पेसिना नाम से किसानों का एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन है, जिसमें भारत सहित कई देशों के किसान संगठन शामिल हैं। इस अंतर्राष्ट्रीय संगठन ने भारत में संयुक्त किसान मोर्चा के नेतृत्व में चले हाल के किसान आन्दोलन को समर्थन दिया है। खाद्य संप्रभुता इस संगठन का विचार है। यह लेख इस संगठन की वेब साइट से साधारण लिया गया है।

खाद्य संप्रभुता हमारे सामूहिक भविष्य के लिए एक दृष्टिकोण प्रदान करता है, और उन सिद्धांतों को परिभाषित करता है जिनके चारों ओर हम अपने दैनिक जीवन को व्यवस्थित करते हैं और धरती माता के साथ सह-अस्तित्व में रहते हैं। यह जीवन और हमारे चारों ओर की सभी विविधता का उत्सव है। यह हमारे ब्रह्मांड के हर तत्व को समाहित करता है; हमारे सिर के ऊपर का आकाश, हमारे पैरों के नीचे की जमीन, जिस हवा में हम सांस लेते हैं, जंगल, पहाड़, घाटियाँ, खेत, महासागर, नदियाँ और तालाब। यह हमारे साथ इस घर को साझा करने वाली आठ मिलियन प्रजातियों के बीच अंतर-निर्भरता को पहचानता है और उनकी रक्षा करता है।

हमें यह सामूहिक ज्ञान अपने पूर्वजों से विरासत में मिला है, जिन्होंने १०,००० वर्षों तक जमीन की जुताई की और पानी को बढ़ाया, एक ऐसा दौर जब हम एक कृषि प्रधान समाज के रूप में विकसित हुए। खाद्य संप्रभुता न्याय, समानता, गरिमा, बंधुत्व और एकजुटता को बढ़ावा देती है। खाद्य संप्रभुता जीवन का विज्ञान भी है - अननिनत पीढ़ियों में फैली हुई वास्तविकताओं के माध्यम से निर्मित, अपनी संतान को कुछ नया सिखाता है, हर व्यक्ति नई विधियों और तकनीकों का आविष्कार करता है, जो प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाते हैं।

इस समृद्ध विरासत के धारकों के रूप में, इसकी रक्षा करना और इसे संरक्षित करना हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है।

इसे अपने कर्तव्य के रूप में स्वीकार करते हुए - विशेष रूप से १९९० के दशक के उत्तरार्ध में जब संघर्ष, तीव्र भूख, ज्लोबल वार्मिंग और अत्यधिक

गरीबी को अनदेखा करना संभव नहीं रह गया- ला वाया कैम्पेसिना (एलवीसी) ने खाद्य संप्रभुता के प्रतिमान को अंतर्राष्ट्रीय नीति-निर्माण स्थानों में लाया। एलवीसी ने दुनिया को याद दिलाया कि जीवन के इस दर्शन को हमारे साझा जीवन के सिद्धांतों का मार्गदर्शन करना चाहिए।

१९८०-९० का दशक बेलगम पूँजीवादी विस्तार का युग था - ऐसी गति से जो मानव इतिहास में पहले कभी नहीं देखी गई। शहरों का विस्तार हो रहा था, सस्ते, अवैतनिक और कम वेतन वाले श्रम के बल पर विकास हो रहा था। ग्रामीण इलाकों को गुमनामी में धकेला जा रहा था। ग्रामीण समुदायों और ग्रामीण जीवन जीने के तरीके को एक नई विचारधारा से ढक दिया गया था जो हर किसी को केवल चीजों का उपभोक्ता और लाभ के लिए शोषण की वस्तु में बदलना चाहता था। लोकप्रिय संस्कृति और चेतना चमकदार विज्ञापनों के प्रभाव में थी जो लोगों को 'अधिक खरीदने' के लिए प्रेरित कर रहे थे। इस सब में, हालांकि, उत्पादन करने वाले - ग्रामीण क्षेत्रों, तटों और शहरों में मजदूर वर्ग, जिसमें किसान और अन्य छोटे पैमाने के खाद्य उत्पादक शामिल थे - अदृश्य रहे, जबकि वे जो भटकने के साथ उपभोग कर सकते थे, वे केंद्र में आ गए। पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के रक्षकों द्वारा प्रचारित इस वैश्वीकरण, मुक्त बाजार की विचारधारा के लिए एक संगठित और अंतर्राष्ट्रीयवादी विरोध के लिए दुनिया भर में किनारों पर धकेले गये किसान, श्रमिकों और स्वदेशी समुदायों ने पहचाना। खाद्य संप्रभुता इस सामूहिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्तियों में से एक बन गई।

१९९६ के विश्व खाद्य शिखर सम्मेलन में, हम अपनी वैश्विक खाद्य प्रणालियों को कैसे व्यवस्थित करते हैं, इस बारे में एक बहस में, ला वाया कैम्पेसिना ने खाद्य संप्रभुता शब्द गढ़ा। छोटे पैमाने के खाद्य उत्पादकों के केन्द्रीय महत्त्व, पीढ़ियों के संचित ज्ञान, ग्रामीण और शहरी समुदायों की स्वायत्तता और विविधता और लोगों के बीच एकजुटता पर जोर देने के लिए, भोजन और कृषि के इर्द-गिर्द नीतियां तैयार करने के लिए आवश्यक घटक के रूप में यह सामने आया।

आने वाले दशक में, सामाजिक आंदोलनों और नागरिक समाज के प्रतिनिधियों ने इसे आगे परिभाषित करने के लिए एक साथ काम किया। खाद्य संप्रभुता का विचार लोगों के पारिस्थितिकी के अनुरूप और टिकाऊ तरीकों से

उत्पादित स्वस्थ और सांस्कृतिक रूप से उपयुक्त भोजन के अधिकार के रूप में सामने लाया और यह बताया कि अपने स्वयं के भोजन और कृषि प्रणालियों को परिभाषित करना उनका अपना अधिकार है। यह खाद्य उत्पादन, वितरण और उपभोग करने वालों की आकांक्षाओं और जरूरतों को बाजारों और निगमों की मांगों के बजाय खाद्य प्रणालियों और नीतियों के केंद्र में रखता है।

सामूहिक अधिकार के रूप में खाद्य संप्रभुता की शुरुआत ने दुनिया को गरीबी और भूख को समझने का तरीका बदल दिया।

तब तक यानि विशेष रूप से २१वीं सदी के शुरुआती वर्षों में, ‘खाद्य सुरक्षा’ का एक संकीर्ण विचार शासन और नीति-निर्माण मंडलों पर हावी था। अपने इरादे में नेक, खाद्य सुरक्षा ने भूख से प्रभावित लोगों को करुणा की वस्तु के रूप में माना, उन्हें कहीं और उत्पादित भोजन के निष्क्रिय उपभोक्ताओं में तब्दील करने का जोखिम उठाया। हालांकि इसने भोजन को एक मौलिक मानव अधिकार के रूप में मान्यता दी, लेकिन इसने खाद्य उत्पादन के लिए वस्तुनिष्ठ स्थितियों की रक्षा नहीं की। कौन पैदा करता है? किसके लिए? कैसे? कहाँ पे? और क्यों? ये सभी प्रश्न अनुपस्थित थे, और निश्चित रूप से केवल ‘लोगों को खिलाने’ पर ध्यान केंद्रित किया गया था। लोगों की खाद्य सुरक्षा पर जोर देने से प्रवासी श्रमिकों के पसीने और श्रम पर बने औद्योगिक खाद्य उत्पादन और कारखाने की खेती के खतरनाक परिणामों को नजरअंदाज कर दिया गया।

दूसरी ओर, खाद्य संप्रभुता एक आमूलचूल परिवर्तन प्रस्तुत करती है। यह गरीबी और भूख के खिलाफ लड़ाई में लोगों और स्थानीय समुदायों को मान्यता देता है। यह मजबूत स्थानीय समुदायों का आह्वान करता है और अधिशेष का व्यापार करने से पहले उत्पादन और उपभोग करने के उनके अधिकार का बचाव करता है। यह स्थानीय संसाधनों का उपयोग करने के लिए स्वायत्ता और वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों की मांग करता है, कृषि सुधार और क्षेत्रों के सामूहिक स्वामित्व की मांग करता है। यह किसान समुदायों के बीजों के उपयोग, बचत, विनियोग के अधिकारों का बचाव करता है। यह लोगों के स्वस्थ, पौष्टिक भोजन खाने के अधिकारों के लिए खड़ा है। यह कृषि-पारिस्थितिकी उत्पादन चक्रों को प्रोत्साहित करता है, हर क्षेत्र में जलवायु और सांस्कृतिक विविधताओं का सम्मान करता है यह हर समुदाय में जलवायु और सांस्कृतिक विविधताओं का सम्मान करते हुए कृषि-पारिस्थितिक उत्पादन चक्रों को प्रोत्साहित

करता है। खाद्य संप्रभुता को साकार करने के लिए सामाजिक शांति, सामाजिक न्याय, लैंगिक न्याय और एकता की अर्थव्यवस्थाएं आवश्यक पूर्व-शर्तें हैं। यह प्रतिस्पर्धा और जबरदस्ती के खिलाफ सहयोग और करुणा के आधार पर एक अंतरराष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था की मांग करता है। यह एक ऐसे समाज का आह्वान करता है जो सभी रूपों - जाति, वर्ग, नस्ल और लिंग - में भेदभाव को खारिज करता है और लोगों से पितृसत्ता और संकीर्णता से लड़ने का आग्रह करता है। एक पेड़ केवल उसकी जड़ों जितना मजबूत होता है। खाद्य संप्रभुता का विचार जिसे १९९० के दशक में सामाजिक आंदोलनों द्वारा परिभाषित किया गया था और बाद में २००७ में इंडोनेशिया के माली में न्येलेनी फोरम में प्रभावी रूप दिया गया, ठीक यही करने का इरादा रखता है।

वर्ष २०२१ में हम इस सामूहिक निर्माण के २५ साल पूरे होने का जश्न मना रहे हैं।

दुनिया कहीं भी परिपूर्ण नहीं है। अभूतपूर्व असमानता, बढ़ती भूख और अत्यधिक गरीबी के बावजूद भी पूँजीवाद और मुक्त बाजार की विचारधारा नीतिगत हल्कों पर हावी है। इससे भी बदतर, एक डिजिटल भविष्य की कल्पना करने के लिए भी नए प्रयास किए जा रहे हैं - किसानों के बिना खेती, मछुआरों के बिना मछली पकड़ना - सभी कृषि के डिजिटलीकरण की आड़ में और सिंथेटिक भोजन के लिए नए बाजार बनाने के लिए।

इन सभी चुनौतियों के बावजूद, खाद्य संप्रभुता आंदोलन अब ला वाया कैम्पेसिना से कहीं अधिक व्यापक है और जिसमें कई तरह के सक्रिय कर्मी शामिल हैं तथा इसने महत्वपूर्ण प्रगति की है।

हमारे संयुक्त संघर्षों के लिए धन्यवाद, एफएओ-२ जैसे वैश्विक शासन संस्थान अंतरराष्ट्रीय नीति-निर्माण में लोगों की खाद्य संप्रभुता के अधिकार की केंद्रीयता को पहचानने लगे हैं। किसानों और ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने वाले अन्य लोगों के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र की घोषणा अनुच्छेद १५.४ में इस पर फिर से जोर देती है। यह कहती है, 'किसानों और ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने वाले अन्य लोगों को अपने स्वयं के भोजन और कृषि प्रणालियों को निर्धारित करने का अधिकार है, जिन्हें कई राज्यों और क्षेत्रों में खाद्य संप्रभुता के अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसमें खाद्य और कृषि नीति पर निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में भाग लेने का अधिकार और पारिस्थितिक रूप से टिकाऊ तरीकों

से उत्पादित स्वस्थ और पर्याप्त भोजन का अधिकार, जो उनकी संस्कृतियों का सम्मान करते हैं, शामिल है।

कुछ देशों ने खाद्य संप्रभुता को संवैधानिक मान्यता भी दी है। औद्योगिक खाद्य श्रृंखलाओं में कोविड-१९ महामारी के कारण हुए व्यवधानों ने राष्ट्रीय सरकारों को मजबूत स्थानीय अर्थव्यवस्था बनाने के महत्व की याद दिला दी है।

किसान कृषि परिस्थितिकी को, जो हमारे क्षेत्रों में खाद्य संप्रभुता सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है, अब एफएओ को ग्लोबल वार्मिंग के खिलाफ लड़ाई के लिए केंद्रीय मान्यता प्राप्त है। संयुक्त राष्ट्र¹ के वर्तमान और पिछले विशेष प्रतिवेदकों ने खाद्य संप्रभुता को एक सरल लेकिन शक्तिशाली विचार के रूप में समर्थन दिया है जो छोटे पैमाने के खाद्य उत्पादकों के पक्ष में वैश्विक खाद्य प्रणाली को बदल सकता है। सामाजिक आंदोलनों के निरंतर अभियान के परिणामस्वरूप कृषि-विषाक्तता, अन्य रासायनिक आदानों और ट्रांसजेनिक बीजों का उत्पादन करने वाले निगमों के खिलाफ कई कानूनी जीत हासिल हुई हैं।

फिर भी, जो हमारे सामने है वह कई बाधाओं से भरी सड़क है। पूंजीवादी विश्व व्यवस्था के प्रवर्तक यह महसूस करते हैं कि खाद्य संप्रभुता एक ऐसा विचार है जो उनके वित्तीय हितों को प्रभावित करता है। वे मोनोकल्चर और समरूप स्वाद की दुनिया को पसंद करते हैं, जहां दूर-दराज के कारखानों में सस्ते श्रम का उपयोग करके भोजन का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जा सकता है, इसके पारिस्थितिक, मानव और सामाजिक प्रभावों की परवाह किए बिना। वे मजबूत स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं के स्थान पर बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्थाओं को पसंद करते हैं। वे एकजुटता वाली अर्थव्यवस्थाओं की जगह एक वैश्विक-मुक्त बाजार (अटकलबाजी और गला काट प्रतियोगिता वाला) चुनते हैं। वे भूमि बैंक रखना पसंद करते हैं जहां औद्योगिक पैमाने पर अनुबंध खेती छोटे उत्पादकों की जगह लेगी। वे मिट्टी के स्वास्थ्य की अपरिवर्तनीय क्षति की अनदेखी करते हुए, बेहतर अल्पकालिक पैदावार के लिए हमारी मिट्टी में कृषि-विषैले पदार्थों को डालते हैं। उनके जहाज फिर से महासागरों और नदियों में रेंगेंग, वैश्विक बाजार के लिए मछलियों को जाल में फंसायेंगे जबकि तटीय समुदाय भूखे मरेंगे। वे पेटेंट और बीज संधियों के माध्यम से स्वदेशी किसानों के बीजों को हथियाने की कोशिश करना जारी रखेंगे। उनके द्वारा किए गए व्यापार समझौतों का लक्ष्य

फिर से उन करों और शुल्कों को कम करना होगा, जो हमारी स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं की रक्षा करते हैं।

बेरोजगार युवाओं का पलायन, गाँव के खेतों को छोड़कर शहरों में मजदूरी का काम चुनना, सस्ते श्रम की नियमित आपूर्ति खोजने की उनकी इच्छा के साथ पूरी तरह से बैठता है। 'मार्जिन' पर उनके अविश्वसनीय ध्यान का मतलब यह होगा कि वे खुदरा सुपरमार्केट में उच्च कीमतों पर व्यापार करते हुए फकार्म-गेट की कीमतों को कम करने के सभी साधन खोज लेंगे। अंत में लोग ही हारते हैं- उत्पादक और उपभोक्ता दोनों। विरोध करने वालों को अपराधी बनाया जाएगा। अधिनायक सत्तावादी सरकारों के साथ वैश्विक वित्तीय अभिजात वर्ग की दोस्ती का मतलब होगा कि राष्ट्रीय और विश्व स्तर पर मानवाधिकारों के उल्लंघन की निगरानी और गिरफ्तारी के लिए बने उच्चतम संस्थान अपना काम नहीं करेंगे। अरबपति अपनी 'परोपकारी संस्थाओं' का उपयोग उन एजेंसियों को नियंत्रित करने के लिए करेंगे जो हमारी खाद्य प्रणालियों के इस कॉर्पोरेट दृष्टिकोण को सही ठहराने के लिए 'अनुसंधान रिपोर्ट' और 'वैज्ञानिक पत्रिकाओं' का प्रकाशन करती हैं। हर वैश्विक शासन स्थान, जहां सामाजिक आंदोलनों और नागरिक समाज के सदस्यों ने मेज पर एक सीट हासिल करने के लिए कड़ी मेहनत की, कॉर्पोरेट समूह के लिए रास्ता बनाएगा जो 'हितधारकों' के रूप में दृश्य में प्रवेश करेंगे। हम में से उन लोगों का उपहास करने का हर संभव प्रयास किया जाएगा जो खाद्य संप्रभुता की रक्षा करते हैं उन्हें अवैज्ञानिक, आदिम, अव्यवहारिक और आदर्शवादी के रूप में पेश किया जायेगा। यह सब होगा, जैसा कि पिछले दो दशकों में हुआ है।

इसमें कुछ भी हमारे लिए नया नहीं है। एक क्रूर और सर्वभक्षी पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा हमारे समाज के किनारों पर फेंक दिए लोगों के पास वापस लड़ने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। हमें विरोध करना चाहिए और दिखाना चाहिए कि हम मौजूद हैं। यह केवल हमारे अस्तित्व के बारे में नहीं है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों और पीढ़ियों से चली आ रही जीवन शैली के बारे में भी है। यह मानवता के भविष्य के लिए है कि हम अपनी खाद्य संप्रभुता की रक्षा करें।

यह तभी संभव है जब हम इस बात पर जोर दें कि खाद्य और कृषि पर के स्थानीय, राष्ट्रीय या वैश्विक नीति प्रस्ताव खाद्य संप्रभुता के सिद्धांतों से निर्मित होना चाहिए। हमारे विश्वव्यापी आंदोलन के युवा किसानों और कार्यकर्ताओं को

इस लड़ाई का नेतृत्व करना चाहिए। हमें खुद को यह याद दिलाना चाहिए कि हर सरहद के भीतर और उसके पार नए गठबंधनों को एकजुट करना और उनका निर्माण करना ही हमारी आवाज को सुनाने का एकमात्र तरीका है। ग्रामीण और शहरी सामाजिक आंदोलनों, ट्रेड यूनियनों और नागरिक समाज के सक्रिय कर्मियों, प्रगतिशील सरकारों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों और प्रौद्योगिकी उत्साही लोगों को हमारे भविष्य के लिए इस दृष्टिकोण की रक्षा के लिए एक साथ आना चाहिए। किसान महिलाओं और अन्य उत्पीड़ित लिंग अल्पसंख्यकों को सभी स्तरों पर हमारे आंदोलन के नेतृत्व में समान स्थान मिलना चाहिए। हमें अपने समुदायों में एकजुटता के बीज बोने चाहिए और ग्रामीण समाजों को विभाजित रखने वाले सभी प्रकार के भेदभाव को दूर करना चाहिए।

खाद्य संप्रभुता भविष्य के लिए एक घोषणापत्र प्रदान करती है, एक नारीवादी दृष्टि देती है जो विविधता को गले लगाती है। यह एक ऐसा विचार है जो मानवता को एकजुट करता है और हमें धरती माँ की सेवा में लगाता है जो हमें खिलाती और पोषित करती है।

इसके तरफदारी में हम एकजुट हैं।



लोकविद्या जन आन्दोलन

लोकविद्या जन आन्दोलन एक ज्ञान आन्दोलन है। यह लोकविद्या की प्रतिष्ठा का आन्दोलन है। गरीबी, बेरोज़गारी और अशिक्षा के महाजाल से मुक्ति का रास्ता लोकविद्या के लिए बराबरी का मान और मूल्य हासिल करने में है। यह सामाजिक न्याय के संघर्ष का अगला चरण है।

तेरा मेरा मनवा कैसे होई एक रे किसान की विद्वान से बातचीत

१९८४ की फरवरी में मजदूर किसान नीति समूह की पहल पर गाँधी विद्या, संस्थान वाराणसी में एक बड़ी परिचर्चा आयोजित की गयी। तीन दिन की इस परिचर्चा में लगभग १५० लोग तीनों दिन उपस्थित रहे और किसान नेताओं के अलावा आन्दोलन के कार्यकर्ता, विचारक, पत्रकार और विश्वविद्यालय के विद्वान सभी उपस्थित थे। किसान नेताओं में महाराष्ट्र के शरद जोशी, हरियाणा से मांगेराम मालिक, दिल्ली से समर सिंह 'समर', पंजाब से भूपेंद्र सिंह मान, बलबीर सिंह राजेवाल और अजमेर सिंह लखोवाल की उपस्थिति उल्लेखनीय है।

अब तक यह मान्य हो चला था कि 'मजदूर किसान नीति' के मार्फत राज्य स्तरीय किसान संगठनों में आपसी ताल-मेल और समन्वय किया जा रहा है।

गोष्ठी के निमंत्रण में यह कहा गया था कि आजादी के बाद इस देश और समाज को बदल देने वाला यह पहला आन्दोलन है। मेहनत करने वालों के संघर्ष को यह फैक्टरी से निकाल कर खुले में, बाजार में ले आया है। न्यायोचित दाम की मांग और रेल व रास्ता रोको इस आन्दोलन की पहचान है।

पूरी परिचर्चा में नेताओं, प्रोफेसरों और विचारवान कार्यकर्ताओं के बीच बार-बार तीखी बहस होती रही। देश के बड़े पत्रकार गोवा से आये क्लाड अल्वारिस भी उपस्थित थे। उन्होंने बाद में इलस्ट्रेटेड वीकली में लिखा कि किसान नेताओं का आत्मविश्वास ऐसा था जो किन्होंने भी प्रोफेसरों को हीन भावना से ग्रस्त कर दे।

इस परिचर्चा से भारत-इण्डिया का स्वर निकला और यह भी कि गरीबी समाप्त करने और विकेंद्रीकरण का सबसे कारगर तरीका कृषि उत्पाद को जायज़ दाम देने में ही है।

गोष्ठी को आन्दोलन की ओर से एक ऐसे प्रयास के रूप में भी देखा गया जिसमें पढ़े-लिखे वर्गों के सामने अपनी बात सफाई से रख कर उनके समर्थन की मांग की गई हो।

मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यो उरझाई रे।

ज्ञान, मानव-समाज और स्वराज

जे. के. सुरेश और जी. शिवरामकृष्णन

ज्ञान और सत्ता का गठजोड़ ही सामान्य जीवन पर दीर्घकाल आधिपत्य जमा सकता है। यूरोप के ज्ञान का प्रकार कुछ ऐसा है कि उसे उसके जन्म स्थान और संदर्भ से विभक्त किया जा सकता है। इसी में यूरोपीय ज्ञान-सत्ता की गति, आक्रामकता और हिंसात्मकता की कुंजी है। हमारे देश के बहुत समाज ने लम्बे समय तक सफलता से ज्ञान और सत्ता के बीच उचित अंतर बना कर रखा। परिणामवश, समाज पर किसी भी किस्म का व्यापक नियंत्रण राज्य के बस की बात कभी नहीं बन पाई। गांधी जी के प्रयास इसी कड़ी में अनेतिकता और राज्य तथा ज्ञान-सत्ता के गठबंधन की संप्रभुता की खिलाफ़त के थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज की स्थिति में राज्य तथा ज्ञान-सत्ता का गठजोड़ तब तक एक के बाद एक संकट बरपायेगा, जब तक उसका कोई दृढ़-संकल्प विरोध खड़ा नहीं हो जाता। ऐसा विरोध कहाँ से उठेगा, यह कम से कम आज स्पष्ट नहीं है।

सामान्य जीवन का सार

लोकविद्या परिप्रेक्ष्य से मानवता का अर्थपूर्ण इतिहास न तो सिर्फ युद्धों और विजयों की फेहरिस्त है, न उनकी याद में खड़े किये गए स्मारक, और न ही उपनिवेशों से हथियाई संपत्ति के रोचक वर्णन। वह तो सामान्य लोगों के सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन की जीती-जागती कहानी है; उन लोगों ने अपने अनुभवों, अपनी श्रद्धाओं और अपने तौर-तरीकों को कैसे लोक-स्मृति में ढाला, इसकी कहानी। इस कहानी में वह केंद्र में है, जो ‘आम’ है, ‘सामान्य’ है, और साथ ही, मनुष्यता की प्रेरणा भी है। प्रेरणा, दो अर्थों में। एक तो यह कि, बहुत समाज में जीवन-क्रियाओं, तर्क के तरीकों, श्रद्धा-प्रणालियों, और तौर-तरीकों की महान विविधता, इसकी देन है; दूसरा यह कि, ‘सामान्य’ पर भाषा, तर्क और विवेक के किसी विशिष्ट व्यवस्थित अनुप्रयोग से ही हर ‘असामान्य’ जन्म लेता है।

समय बीतते, जो ‘असामान्य’ है, वह समाजों की प्रेरणा और आदर्श बनकर मुखरित होता है, तथा मिथकों, इतिहासों और सांस्कृतिक स्मृतियों के रूप में नकल, शिक्षा और प्रशिक्षण के माध्यमों से कई पीढ़ियों को प्रभावित करता रहता है। दूसरे तरीके से देखें, तो यह कहना ठीक होगा कि, समय के

साथ 'सामान्य' के पुनर्निर्माण की प्रक्रियाओं में 'असामान्य' वह प्रेरणा है, जिसका तकाजा परिवर्तन और उन्नति का है। किसी भी समाज में 'सामान्य' तथा 'असामान्य' की यह परस्पर क्रिया इन दोनों के बीच का अंतर, और उस समाज का वजूद, दोनों को उजागर करती हैं। कला, भाषा, साहित्य, काव्य, संगीत, विज्ञान, दर्शन, तांत्रिकी, और वह सभी, जो मनुष्यता को चिन्हित करता है इन्हीं परस्पर क्रियाओं का परिपाक है। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि, 'सामान्य' शब्द का प्रयोग हम इस लेख में बहुसंख्य लोगों की सामूहिक हस्ती के एक अहम आयाम के अर्थ में कर रहे हैं, न कि किसी निम्न स्थान-वाचक अर्थ में।

ज्ञान, सत्ता और राज्य

वास्तविक दुनिया में 'सामान्य' और 'असामान्य' के बीच की परस्पर क्रियाएं न तो स्वयं-स्फूर्त होती हैं, और न ही स्वायत्त मानी जा सकती हैं। समाज में सत्ता से प्रभावित आपसी सम्बन्ध उन स्थितियों को परिभाषित और निश्चित करते हैं, जिनमें सामान्य जीवन जिया जाता है। फिर भी सत्ता में वह क्षमता नहीं है, जिससे सामान्य जीवन पर बहुत लम्बे समय के लिए अधिपत्य जमाया जा सके। उसे ऐसे मिथकों की आवश्यकता है, जो समाज के समक्ष उन नियम-कानूनों को उस पर थोपने का तर्क प्रस्तुत करते हैं, जिनसे यह क्षमता हासिल हो सके। यथावकाश ये मिथक जीवन के जिन सिद्धान्तों में ढाले जाते हैं, उनके बारे में यह दावा किया जाता है कि, वे हर जगह और हर काल में सही हैं।

जैसे मात्र सत्ता दुनिया नहीं चला सकती, वैसे ही ज्ञान भी सिर्फ अपने आप में यह क्षमता नहीं रखता। सत्ता से किसी अभिन्न रिश्ते के साथ ही ज्ञान समाज के दृश्य आयामों को संगठित और व्यवस्थित करने में सक्षम होता है; तथा आचार-विचार के नियम, मान्यताएँ, सही-गलत के तर्क, आत्मा की पुकार जैसे उन अदृश्य पहलुओं को भी, जो मानवीय क्रियाओं को निर्देशित करते हैं। दूसरे शब्दों में सत्ता दो तरह से प्रकट होती है: समाज के भौतिक और आभासी संसाधनों के उपयोग की नियंत्रक बनकर, और समाज के सदस्यों के विचारों और क्रियाओं के नियंत्रक के रूप में। इस लेख में हम यह अकित करने के लिए कि, प्रभावशाली सत्ता ज्ञान से अलग नहीं की जा सकती, 'ज्ञान-सत्ता' इस शब्द का प्रयोग करेंगे।

इस समझ के साथ हम राज्य को कैसे देखें? कहा जा सकता है कि, सैकड़ों वर्षों, या हो सकता है, और भी लम्बे समय के ज्ञान-सत्ता के अनुप्रयोगों से एकत्रित मान्यताओं तथा क्रियाओं का गठजोड़ ही राज्य है। किसी भी गतिशील समाज में मान्यताएं, तौर-तरीके, उत्पादक विधाएं और आर्थिक संगठन के जोड़-तोड़ और पुनर्निर्माण से ज्ञान-सत्ता में लगातार परिवर्तन होता रहता है। राज्य ज्ञान-सत्ता की क्रियाओं में सातत्य स्थापित कर अपने अलग अस्तित्व का कारण पुरखता करता है।

जब राज्य पर कुछ लोग काबिज हो जाते हैं, जो कि आज हो रहा है, उनके हितों की रक्षा का मकसद न्याय और निष्पक्षता के सारे आदर्शों को ताक पर पहुँचा देता है। यही मकसद राज्य द्वारा समाज के लिए नियत मान्यताओं और कर्तव्यों पर भी हावी हो जाता है। यही कारण है कि, आज समाज में प्राथमिक अंतर्विरोध पूँजी और श्रम के बीच न होकर, राज्य और श्रम के बीच है। इस अंतर्विरोध का रूप वह तनाव है, जो एक तरफ राज्य की ज्ञान-सत्ता और दूसरी तरफ बहुसंख्य जनता के बीच है, या एक तरफ विशेषज्ञों का ज्ञान और दूसरी तरफ सामान्य जीवन में अन्तर्निहित ज्ञान इनके बीच।

आधुनिक युग में राज्य

सोलहवीं सदी में आधुनिक राज्य के उदय के साथ राज्य और ज्ञान-सत्ता के जोड़ में काफी दूरगामी परिवर्तन हुए। इससे पहले, जब यह जोड़ कुछ कमजोर हुआ करता था, राज्य अपनी सत्ता का उपयोग कुछ सीमाओं में बंधकर कर किया करता था, तथा समाज अगर बहुत समृद्ध नहीं, तो कम से कम आज से अधिक न्याय-प्रिय हुआ करता था। लेकिन जैसे-जैसे राज्य अन्य समाजों से युद्ध, उनके दमन और उनपर शासन की लालसा से ज्ञान-सत्ता पर हावी होता गया, सामान्य जीवन में अन्तर्निहित ज्ञान का दर्जा नीचा आँकने के अभियान चले, और बहुत समाज के बहुसंख्य लोगों के गौरव और सम्मान, जीवनयापन, और यहाँ तक कि, उनके स्थान और पहचान तक पर गंभीर आघात होने लग गए।

ज्ञान-सत्ता की बढ़ती पहुँच

आधुनिक युग में यूरोप की ज्ञान-सत्ता की गति में जो बात निर्णायक साबित हुई, वह थी उस ज्ञान को उसके अपने जन्म-स्थान और संदर्भों से

विभक्त कर पाना, तथा औद्योगिक क्रान्ति के दौरान और उसके बाद उसका बहुत बड़े पैमाने पर व्यापक उपयोग। तब तक इंग्लॅण्ड ने लगातार अधिकाधिक जटिल ज्ञान को मशीनों के अन्दर अवतरित करने की और समाज-प्रबंधन की काबीलियत हासिल कर ली थी। धीरे-धीरे इस क्षमता का लोहा, कपड़ा, भाप से चालित मशीनें और औजार जैसे क्षेत्रों में, तथा बीसवीं सदी के आरम्भ से बहुत बड़ी मात्रा में वस्तुओं के उत्पाद के लिए उपयोग होने लगा। इसके साथ उत्पादक मानवीय क्रियाएं मात्र शारीरिक परिश्रम तक सीमित, या उसमें परिवर्तित होने लगीं। इन प्रक्रियाओं से यह सूचित होता है कि, ज्ञान जब अपने स्थानीय सन्दर्भों से विभक्त हो जाता है, तब वह कुछ नया चरित्र, और गति अखित्यार कर लेता है, तथा समय के साथ वह अधिक कार्यक्षम तान्त्रिकी के रूप में नया अवतार लेता है।

बीसवीं सदी के अंत में सूचना और संचार तांत्रिकी ने दुनिया भर के लोगों, ज्ञान और तरह-तरह की उत्पादक विधाओं को सर्वथा नए अर्थों में आपस में जोड़ा। संचार और सूचनाओं की गति में हुई बड़ी भारी बढ़ोत्तरी ने ज्ञान के अपने सन्दर्भों से विभक्तिकरण, और अधिकाधिक जटिल प्रणालियों में उसके अवतरण की प्रक्रियाओं को बहुत बड़ा प्रोत्साहन दिया। इस प्रक्रिया के कारण ज्ञान-सत्ता ने अपने आप को दुनिया भर के प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों का दोहन और प्रबंधन करने की अग्राध क्षमता हासिल कर ली। परिणाम यह है कि, राज्य ने अपने लिए अभूतपूर्व ताकत अखित्यार कर ली है।

ज्वार का उलटफेर : भारत में राज्य और ज्ञान-सत्ता

पिछले कुछ दशकों ने दुनिया के प्रगाढ़ धनिकों ने अपने मुनाफे, ताकत और नियंत्रण को बढ़ाने में भारी सफलता पाई है। इसके साथ ही राज्य ने अपने अधिकारों में अत्यधिक इजाफा कर लिया है। इन घटनाओं से बहुसंख्य लोगों के गैरव, जीवनयापन की लूट-खसोट और अन्याय का दुष्चक्र चल पड़ा है। ज्ञान-सत्ता ने भी इस दरमियाँ लोगों के जीवन के अनेक पहलुओं का यंत्रीकरण और स्वचालीकरण करने की दिशा में बड़े कदम उठा लिए हैं, जिनका अपरिहार्य परिणाम धीरे-धीरे हुनरमंद लोगों की जखरत को घटाने का ही हो सकता है। राज्य के सारे औजार और शस्त्र बहुसंख्य लोगों के विरोध में खड़े होने की इस स्थिति में लोगों की खिलाफत और संघर्ष की ताकत और इच्छा दोनों घटे हुए से मालूम पड़ते हैं। संघर्ष सिर्फ अभिजात धनाद्यो के खिलाफ नहीं है, बल्कि

उससे भी है जो सामान्य जीवन की आत्मा चूसकर उसे राज्य का एक औजार मात्र बना छोड़ता है, ताकि उसे और बड़ी खाई में झोंका जा सके।

इस मकाम पर कुछ प्रश्न खड़े होते हैं: क्या यह घटना-क्रम सार्वभौम है, जो हर समाज के साथ में होता है, होता रहेगा, और क्या सब सामान्य जीवन जीनेवालों के भाग्य में उनके कर्मों का सम्पूर्ण विलोप लिखा हुआ है? परिणामवश, क्या हम सब हमारे अपने समाजों को इस प्रकार विसर्जित होने से रोकने में ना-काबिल हैं?

इन प्रश्नों के उत्तर शायद उन महान चुनौतियों में ढूँढ़ने होंगे, जो चार शतकों के सारी दुनिया पर औपनिवेशिक वर्चस्व के सामने भारत में महात्मा गांधी के नेतृत्व ने खड़ी कीं। इनका वास्ता मात्र परदेसी शासन की खिलाफत से नहीं था, बल्कि जीवन, राजनीति, समाज, तथा विशेषतया राज्य और ज्ञान-सत्ता के बीच के संबंध इन सभी पर यूरोप के वैचारिक प्रभुत्व की जड़ों पर कुठाराघात करने से था।

ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश के बृहत् समाज ने सफलता से लम्बे समय तक ज्ञान और सत्ता के दरमियाँ अंतर बनाकर रखा। परिणामवश, समाज पर किसी भी किस्म का व्यापक नियंत्रण राज्य के बस की बात कभी नहीं बन पाई। यहाँ के बारे में अंग्रेजों के कुछ शुरूआती व्योरों में हम पाते हैं कि, अवध के नवाब का आम लोगों के साथ भोजन करना, या देश भर में राज-परिवारों के सदस्यों की सीधी सरल सचियाँ और आदतें उनके लिए चौंकाने वाले और पूर्णतया अनपेक्षित थीं। राजाओं के बारे में अंग्रेजों की कुछ अलग किस्म की धारणाएं थीं। धरमपाल तथा अन्य इतिहासकारों के विचार में हमारे समाज में तुलनात्मक असमानता अधिक नहीं थी, और भूतकाल में कभी बहुसंख्य जनता विपन्नावस्था में नहीं थी।

बात यह नहीं कि, युद्ध और चढ़ाइयाँ कोई महत्व नहीं रखते थे। या, यह भी नहीं कि उनकी संख्या बहुत कम थी। हमारे भूतकाल में भी राज्य के प्रभावशाली शस्त्रों में हिंसा तथा युद्ध की गिनती अवश्य थी। लेकिन, सोलहवीं सदी के यूरोप की तरह शत्रु को निर्णायक दीर्घकालीन नुकसान पहुंचाने की राज्य की कोई हैसियत नहीं बनती थी, क्योंकि यहाँ सत्ता और ज्ञान के बीच की कड़ी कमजोर थी। राज्य की इस कमजोरी में ही कानून-व्यवस्था की न्याय और निष्पक्षता से नजदीकी का राज था। और इसका भी कि, किसान पर फसल के

१५-२० प्रतिशत से अधिक कर नहीं लग पाया। शायद इसीलिए तांत्रिकी में भी धीरे-धीरे ही परिवर्तन हो पाए। बैलगाड़ी, खेती के लिए जल-प्रणाली, घरों का निर्माण, उद्योग, स्वास्थ्य-प्रणालियाँ, युद्ध के तंत्र इन सभी में बदलाव तो हुए, लेकिन धीमी गति से। ऐसा जान पड़ता है कि, प्रभावशाली विकेंद्रीकरण, लोक-जीवन में शान्ति, विविधता से समृद्ध जीवन-प्रकार, और दास-प्रथा, भुखमरी तथा व्यापक हिंसा का अभाव, ये सब सत्ता और ज्ञान के विभक्त रहते संभव हैं, तथा इस तथ्य का सटीक प्रमाण हमारे भूतकाल में मौजूद है।

इन सन्दर्भों में हमें जाति प्रणाली को फिर से समझना होगा। यहाँ की जाति-व्यवस्था वह सामाजिक गठबंधन है, जिसने हजार वर्ष से बहुत समाज सर्वव्यापी, केंद्रीकृत सत्ता के अवतरण से बचाये रखा है। साथ ही इस व्यवस्था ने समाज को बिखराव से भी बचाए रखा। कई तरीकों से जाति अन्याय और पक्षपात से बचने का माध्यम बनती रही है: सुलह-वार्ता, असहकार, राजा के क्षेत्र से दूर स्थानान्तरण, हड्डताल, अनशन, किसी समाज को विशिष्ट सेवा देने से इनकार, और कुछ गिने-चुने मौकों पर आत्म-त्याग। खिलाफत के तरीकों की इस विविधता और कार्यक्षमता के कारण ही शायद ज्ञान और सत्ता का जोड़ साधने में, और अधिक दमनकारी व्यवस्था खड़ी करने में राज्य को कभी सफलता हासिल नहीं हुई। हो सकता है कि, इसी कारणवश बाहरी पर्यवेक्षकों को हमारा देश एक ऐसी चिरायु सभ्यता के रूप में नज़र आया, जहाँ संयम, सहनशीलता और सरल तथा पारलैकिक में श्रद्धा का साथ विपुलता से था।

स्वराज : गांधी जी के समय और बाद में

अंग्रेजों सदी के उत्तरार्थ से यहाँ के समाज की तोड़-फोड़ के दो पहलू हैं। पहला अंग्रेजों द्वारा समाज के तौर-तरीकों, मान्यताओं को बड़ी मात्रा में तिरस्कृत और अपमानित किया जाना, सामूहिक हत्या और अभूतपूर्व हिंसा का माना जाएगा। दूसरा है, अंग्रेजी मार से यहाँ के अभिजात वर्ग का संपूर्णतया बिखर जाना। राज्य-ज्ञान-सत्ता के गठबंधन का आकर्षण इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि, ब्राह्मणों ने जीती-जागती पारंपरिक क्रियाओं को निर्जीव नियम-कानूनों और कर्मकाण्डों के रूप में ग्रंथों में बांध देना स्वीकार किया। अभिजात वर्गों ने अंग्रेजी कानून-व्यवस्था को न्याय करने के समर्थ, देसी, स्थानीय तौर-तरीकों से ऊपर का स्थान बहाल कर दिया। नतीजा यह हुआ कि, आम लोगों की नज़र में गोरा अंग्रेज, ब्राह्मण और क्षत्रिय का अद्वितीय संगम सा बन चला।

स्थितियां कुछ इसी प्रकार की थीं, जब महात्मा गांधी के अहिंसा, सत्याग्रह, और असहकार के अभियान ने समाज को झकझोर कर जागृत किया। गांधीजी का मकसद मात्र देश को परकीय सत्ता से छुटकारा दिलाने का ही नहीं था। उनके कार्य की प्रेरणा उस आधुनिक राज्य सत्ता से दुनिया को मुक्ति दिलाने की थी, जिसकी असीम ताकत बहुत बड़े पैमाने पर दुष्प्रचार, तांत्रिकी, और युद्ध के साधनों के जरिये सामान्य लोगों पर तो आधिपत्य जमाती है ही, लेकिन उससे भी आगे अपने मालिकों को भी गुलाम बनाती है।

गांधीजी ने अहिंसा, निजी अनुशासन और सामूहिक असहकार जैसी नवजात संकल्पनाओं के माध्यम से इस मुक्ति संग्राम को सरलता प्रदान करने के लिए भारतीय और अंग्रेज अभिजात वर्गों को अपने कार्य में शामिल करने की रणनीति को अंजाम दिया। उनके प्रयासों को अनैतिकता और राज्य तथा ज्ञान-सत्ता के गठबंधन की संप्रभुता की खिलाफत के रूप में समझा जा सकता है। उनकी दृष्टि में प्रगति और सभ्यता की अंग्रेजी धारणाओं में ही सब बुराइयों की जड़ थी। अपने कारनामों को दुनिया को सभ्य बनाने के अभियान के रूप में पेश करने के अंग्रेजों के प्रयास की भी गांधीजी ने भारी भर्त्सना की। उन्होंने राष्ट्रवाद के विचार को नकारा। उन्हें शायद इस बात का अंदेशा था कि, पश्चिमी ज्ञान-मूलक तत्वों के सहारे ताकतवर होकर राज्य अपने ही लोगों के दमन को न्याय का जामा पहनाने की कोशिशें कर सकता है।

गांधीजी की दृष्टि में भारतीय समाज की जो भावी छवि हो सकती थी, उसका सटीक उदाहरण बीसवीं सदी के चौथे दशक में महाराष्ट्र में सातारा जिले में औंध के राजा द्वारा उसके अपने छोटे से राज में किये गए उन प्रयोगों में देखा जा सकता है, जिनका निर्देशन उन्होंने गांधीजी के कहने पर किया। प्रतिनिधित्व के तरीके, निर्णय-प्रक्रिया की स्थानीयता, संसद द्वारा अपने अधिकारों का उपयोग, और संसद के कार्य पर देख-रेख के विषय में गांधीजी की सलाह और सिफारिशों को ज्ञान-सत्ता को उसके अपने ही कार्यक्षेत्र, अर्थात् राज्य, से बेदखल करने के पहले अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयासों के तौर पर देखा और समझा जा सकता है।

राज्य की दखल और भूमिका में निर्णायक कटौती और उसके साथ व्यक्ति द्वारा कर्तव्यों का वहन इन दोनों के संयोग से स्वराज्य की स्थापना गांधीजी की नज़र में ऐतिहासिक जरूरत थी। यहीं शर्त भी थी राज्य और ज्ञान-

सत्ता के बीच के उस गठबंधन को तोड़ने की, जिसने राज्य को लोगों के जीवन पर राज करने की क्षमता दी। शायद उनका यही विश्वास था, जब उन्होंने पश्चिमी सभ्यता को दुष्ट और निर्दयी घोषित किया। चूँकि गाँव में राज्य तथा ज्ञान-सत्ता का गठजोड़ कमजोर था, मानवीय पहल वहाँ मुखर हो सकेगी इसी विश्वास के साथ शायद उन्होंने गाँव को केंद्र में रखने पर भी जोर दिया।

अगर वर्तमान परिस्थितियों में हम गांधीजी के कार्य और सीख से प्रेरणा लेना चाहते हैं, तो यहाँ हमने जिन धारणाओं की बात की, ऐसी ही कुछ धारणाओं की मदद से हमें शायद गांधीजी के जीवन को दोबारा समझने की जरूरत है। बहरहाल, इसमें कोई संदेह नहीं कि, राज्य तथा ज्ञान-सत्ता का गठजोड़ अपनी आज की स्थिति में तब तक एक के बाद एक संकट बरपायेगा, जब तक उसका कोई दृढ़-संकल्प विरोध खड़ा नहीं हो जाता। ऐसा दृढ़-संकल्प विरोध कहाँ से उठेगा, यह कम से कम आज स्पष्ट नहीं है। किसान आन्दोलन में सक्रिय साथियों का मानना है कि १९८० के आस-पास शुरू हुआ और २०२०-२२ के बीच दिल्ली के ईर्द-गिर्द फिर से खड़ा हुआ किसान आन्दोलन वह स्थान है जहाँ इस संकल्प की खोज की जानी चाहिए या फिर यह कि इस किसान आन्दोलन को ऐसे नये 'दृढ़ संकल्प' के उदय के प्रस्थान बिंदु के रूप में देखा जा सकता है।



**हर किसान-कारीगर परिवार
की आय सरकारी कर्मचारी के
बराबर, पक्की और नियमित हो।**

समाज संगठन के प्रमुख स्तम्भ

चित्रा सहस्रबृद्धे

वर्तमान त्रासद दौर की मांग है कि समाज संगठन और सत्ता के प्रतिष्ठित दर्शन, तर्क, मूल्य और व्यवस्था से ऊपर उठकर सोचें-विचारें। स्थापित विचारों के जाल से निकलने और समाज की वास्तविकताओं की बुनियाद पर देश का भविष्य बनाने की दिशा का संकेत किसान आन्दोलन ने निश्चित ही कर दिया है। किसान आन्दोलन की अराजनीतिकता, सामूहिक नेतृत्व और पंचायतों की भूमिका, सरकार से सीधी वार्ता का आग्रह, हिंसा को कोई जगह न देना, मिलकर रहने, सोने, भोजन और रक्षणात्मक व्यवस्थाएं, भूख का व्यापार न होने देने की बात भविष्य के समाज के लिए दिशाबोध कराते हैं। जीवनावश्यक वस्तुएं, जीवन के साधन, जीवन मूल्य, जीवन संगठन के आधार और संगठन इकाई के आधार उस समाज के प्रमुख स्तम्भ हैं। इनके विविध अंग और उनके आपसी संबंधों का एक वित्त बनाने का प्रयास लेख में उपस्थित मुद्दों के साथ हो सकता है।

पिछली दो-ढाई सदियों से यूरोप व अमेरिका के नेतृत्व में दुनिया को जिस तरह ढालने की कोशिश चली थी उसी का नतीजा वर्तमान का यह दौर है। आज की राजसत्ता, राजनीति और आर्थिक व्यवस्थायें मिलकर जीवन और दुनिया को जिस तरह से गढ़ने की कोशिश में हैं वह दिन-ब-दिन मनुष्यता को खत्म करते जाने के इंतजाम करती प्रतीत होती है। इस दौर का दर्शन, जीवनमूल्य, तर्क, संगठन और व्यवहार के साधन/तरीके आदि सब कुछ मिलकर हमारे विवेक और सक्रियता को घेरते हैं, कुंद करते हैं। पहल लेने के हर रास्ते पर बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी कर देते हैं। अद्वारहर्वाँ सदी में हुई फ्रांसीसी क्रांति के बुनियादी मूल्यों इक्वलिटी (केवल कानून के सामने बराबरी), फ्रीडम (स्वतंत्रता) और फ्रेटरनिटी (बंधुत्व) को अधिकांश देशों ने डेमोक्रेसी का आधार बनाया और आज भी दुनिया में इसे सबसे अधिक सम्मान का स्थान मिला हुआ है। यह गौर करने की बात है कि सामंतों के खिलाफ पूँजीवाद के पक्ष में हुई फ्रांस की क्रांति के बाद राजसत्ता में बहुसंख्य सामान्य लोगों को बराबर के अधिकार तो नहीं मिले लेकिन दुनियाभर में पूँजीवाद का राज कायम करने का रास्ता अवश्य खोल दिया। जब यूरोप के देशों ने उपनिवेशीकरण के जरिये अन्य देशों को गुलाम बनाकर लूटना शुरू किया तब इन मूल्यों और डेमोक्रेसी की व्यवस्थाओं की संकुचितता और पाखण्ड खुलकर सामने आने लगा। बराबरी, भाईचारा

और स्वतंत्रता के मूल्य मोटे तौर पर केवल पूँजीवाद की आर्थिक/सामाजिक गतिविधियों में शामिल लोगों को ही ह्यासिल रहे हैं और इसकी कीमत बड़ी आबादी ने गुलाम बनकर चुकाई है। जब औपनिवेशिक देश आजाद हुए तो उन्होंने इसी व्यवस्था को जारी कर अपने ही देश की आबादी के थोड़े हिस्सों को पूँजीवादी व्यवस्था में शामिल किया और शेष सभी को गुलाम बनाया, जिनमें मुख्यतः किसान, कारीगर, आदिवासी और छोटी पूँजी के बल पर सेवा और दुकानदारी करने वाले समाज थे। हमारे देश में इस प्रक्रिया की बहुत सटीक समझ १९८० के दशक से चल रहे किसान आन्दोलन ने सामने रखी और इसे देश का ‘भारत-इण्डिया’ विभाजन नाम दिया तथा आजादी के पहले और बाद की सत्ता को ‘गेरे अंग्रेजों का राज’ और ‘काले अंग्रेजों का राज’ कहा।

नवम्बर २०२० से हमारे देश में शुरू हुए ऐतिहासिक किसान आन्दोलन ने निश्चित ही आणे कदम बढ़ाये हैं और इस कठिन दौर में नए ढंग से सोचने का आवाहन किया है। एक न्यायपूर्ण समाज-निर्माण के विचार को खड़ा करने की इस आन्दोलन ने ज़मीन बनाई है। वर्तमान त्रासद दौर की मांग है कि समाज संगठन और सत्ता के प्रतिष्ठित दर्शन, तर्क, मूल्य और व्यवस्था से ऊपर उठकर सोचें-विचारें। स्थापित विचारों के जाल से निकलने और समाज की वास्तविकताओं की बुनियाद पर देश का भविष्य बनाने की दिशा का संकेत इस आन्दोलन ने निश्चित ही कर दिया है। सब के लिए खुशहाली, न्याय और भाईचारे का समाज बनाने के लिए किसान आन्दोलन ने हाथ बढ़ा दिया है, दिशा का संकेत किया है, विचार के लिए रास्ते खोले हैं। इस सन्दर्भ में कुछ प्रमुख बातें यहाँ उजागर करना चाहेंगे, जिन पर लोकहित में परिवर्तन की चाह रखने वालों से विचार करने का आग्रह है।

१. किसान आन्दोलन एक लम्बे समय से अराजनीतिक बना हुआ है। इस आन्दोलन में मंच पर किसी भी पार्टी के नेता को नहीं आने दिया गया। इसका अर्थ है कि देश की एक बहुत बड़ी आबादी का राजनीति और राजनीतिक व्यवस्थाओं में विश्वास नहीं है और उसके पास इस समाज संगठन और सञ्चालन के कुछ अलग सुझाव अवश्य हैं। यह जरूर है कि किसान संगठन आन्दोलन के बार बार-बार राजनीतिक पार्टी बनाने की कोशिश करते रहे हैं और इस बार भी ऐसा हुआ है लेकिन इससे उनका अराजनीतिक बने रहने का आग्रह खत्म नहीं हुआ।

२. वर्ष २०२०-२०२१ के किसान आन्दोलन में सामूहिक नेतृत्व और पंचायतों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। जिसके नतीजेस्वरुप अनेक समाजों की व्यापक भागीदारी हुई और यह आन्दोलन लोक सक्रियता का स्रोत बन गया। निश्चित ही आन्दोलन से लोक भागीदारी आधारित समाज संगठन और सञ्चालन के रूपों की फसल के लिए ज़मीन बन गई है।
३. इस आन्दोलन ने राजनीतिक नेताओं व आर्थिक और कृषि क्षेत्रों के विशेषज्ञों की सलाह/दखल को सीधे खारिज किया है। इसका अर्थ यही है कि वर्तमान में कृषि और आर्थिक गतिविधियों के संगठन की नीतियों से यह आन्दोलन न केवल अपना विरोध दर्ज कर रहा है बल्कि इस पूरी व्यवस्था के आधारभूत ज्ञान और लक्ष्यों पर सवाल उठा रहा है। आज के राजनीतिक दल और विशेषज्ञ वर्तमान व्यवस्था के पोषक ही सिद्ध हो चुके हैं। उनके ज्ञान में लोकहित में कार्य करने की कोई कारगर विद्या, ज्ञान अथवा सुझाव नहीं है।
४. यह आन्दोलन सरकार से सीधे वार्ता का आग्रह करता रहा है और किसान संगठनों का यह आग्रह सरकार से बराबरी की प्रतिष्ठा का दावा ही है। स्पष्ट है वर्तमान राजनीतिक मंशा और व्यवस्थायें इस संवाद को नहीं होने देना चाहती।
५. इस आन्दोलन को लगभग हर प्रदेश, क्षेत्र और तबके का समर्थन हासिल रहा। बहुत बड़े पैमाने पर महिलाओं की सक्रिय भागीदारी रही।
६. पूरे दौर में किसान आन्दोलन शांतिपूर्ण रहा। लगातार चल रही बड़ी-बड़ी पंचायतों में विचार, वाणी और क्रिया में कर्हीं भी हिंसा को स्थान नहीं दिया गया। यह भागीदार समाजों के और आन्दोलन के संगठन और सञ्चालन के अभूतपूर्व ‘ज्ञान’ का ही नतीजा हो सकता है। न्याय, प्रेम, त्याग और भाईचारे के मूर्ति रूप और घटनाओं ने आन्दोलन को जो शक्ति दी है उससे किसानों के प्रति सत्ता के असत्य वचन और षड्यंत्रकारी प्रयास स्वतः ही खुलकर सामने आ गए।
७. आन्दोलन के दौरान विभिन्न धरना स्थलों पर किसानों और उनके समर्थन में आये व्यापक जनसमूहों ने मिलकर रहने, सोने, भोजन और

स्वच्छता की जो व्यवस्थाएं कीं वे हमें यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त हैं कि देश का भारत में रहने वाला समाज सबको साथ लेकर सबके लिए भोजन, रहने और ओढ़ने की व्यवस्थाओं का संगठन करने की क्षमता रखता है।

- c. किसान संगठनों पर यह आरोप लगता रहा है कि ये ट्रेड यूनियनों की तरह केवल अपने बारे में सोचते हैं। लेकिन इस बार किसान आन्दोलन इस खोल से भी बाहर आने में कुछ हद तक सफल हुआ। आन्दोलन के नारे “रोटी को तिजोरी में बंद न होने देंगे” “भूख का व्यापार नहीं होने देंगे”, “हम अगली कौमों की फसल बचाने की बात करते हैं” इसे मजबूती के साथ अभिव्यक्त करते हैं। शुरू से ही कृषि के तीनों कानूनों को आन्दोलन ने गरीबों के भोजन को छीनने वाला बताया है।

भविष्य के लिए समाज चिंतन

सभी को रोटी, कपड़ा और मकान मिलना और सम्मानपूर्वक मिलना न्यायपूर्ण समाज-निर्माण की पहली और अनिवार्य शर्त है। केवल मनुष्य को ही नहीं, बल्कि हर जीव को उसका प्राकृतिक भोजन और निवास मिलता रहे यह भी उतना ही ज़रूरी है। इन भौतिक आवश्यकताओं को सम्मानपूर्वक हासिल करने के लिए ज्ञान, संसाधन, उत्पादन और आपूर्ति का संगठन और व्यवस्था कुछ इस तरह से होना ज़रूरी है कि इन गतिविधियों में पूरा समाज शामिल हो। दूसरे शब्दों में हर हाथ में इन गतिविधियों से जुड़े किसी हिस्से की रचना की जिम्मेदारी हो। यह संभव तभी हो सकता है, जब हम हर मनुष्य और हर समाज को एक ज्ञानपुंज के रूप में देखें। ऐसे ज्ञानपुंज के रूप में, जो अपने परिवेश के संसाधनों, उत्पादन और आपूर्ति के विविध तरीकों के जानकार, सृजनकर्ता, अविष्कारकर्ता, संगठनकर्ता और विचारक है। मनुष्य की ऐसी पहचान उसके और समाज के अस्तित्व के हर पक्ष से रुबरु कराती है। हमारे देश के कला-विचारक और कला-दार्शनिकों के अनुसार मनुष्य को ज्ञानपुंज मानने का आधार उसकी रचनाक्षमता में है। रोटी, कपड़ा, मकान आदि जीवनावश्यक वस्तुओं को जुटाने और पैदा करने की तमाम क्रियाओं को ‘रचना’ का दर्जा है और कोई भी रचना मात्र भौतिक स्तर तक सीमित नहीं होती, बल्कि उसमें मनुष्य/समाज की कल्पना, सौन्दर्य और नैतिक भावों का विशाल संसार शामिल होता है। एक ऐसा लोक जिसके चलते मनुष्य/समाज द्वारा आकार ले

रही हर वस्तु या क्रिया में भौतिक-अभौतिक का भेद घटता चला जाता है। रोटी, कपड़ा और मकान से जुड़ी हर क्रिया भाव, विवेक, नैतिक मूल्य, तर्क, सौन्दर्य आदि से सराबोर नज़र आती है। रचना और निर्माण के, (प्रजनन और समाज निर्माण के भी) हर कार्य में ये निहित माना गया है। रचना करते हुए रचनाकार का न्याय, त्याग और भाईचारा जैसे मूल्यों से साक्षात्कार होता है। मनुष्य या समाज जब इन्हें अनदेखा करता है तो दुर्भावों (लालच, ईर्ष्या, आदि) से घिरता है।

हमारे देश की ज्ञान परम्पराओं में जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के निर्माण की कला(यानि ज्ञान) और ललित कलाओं में भेद नहीं किया जाता रहा है। जो तर्क और मूल्य जीवनावश्यक वस्तुओं के निर्माण का आधार माने गए वे ही तर्क और मूल्य कला क्षेत्र के भी रहे। हमारी संत परम्परा में परिवार/समाज के लिए आवश्यक उत्पादन और सेवा कार्यों को नैतिक और दार्शनिक कार्य का दर्जा दिया गया है। गांधीजी ने भी इसी ज्ञान परम्परा से प्रेरणा और बल को हासिल कर खादी आन्दोलन को 'गुलामी से मुक्ति' का आन्दोलन बनाया। हाल ही के किसान आन्दोलन ने संत परम्परा से आत्मबल हासिल करने का आग्रह रखा, वह ऐसी ज्ञान परम्पराओं के रहते ही। किसान 'अन्नदाता' है, अन्न की रचना करता है, अन्न से जुड़े सामाजिक दायित्व को निभाने की समकालीन व्यवस्थाओं को बनाने का ज्ञान रखता है और उसका 'ज्ञान' आधुनिक साइंस से भिन्न है। उसके 'ज्ञान' में जीवनमूल्य, संवेदना, भाव, पर-पीड़ा को महसूस करने की क्षमता है। यहीं वजह है कि वह सीना ठोक कर कह सकता है- “रोटी को तिजोरी में बंद न होने देंगे” और “भूख का व्यापार नहीं होने देंगे”। किसान आन्दोलन ने 'न्याय, त्याग और भाईचारा' का जो जीवंत दर्शन कराया है उससे ज्ञान और समाज-संगठन के प्रकारों की इस जीवंत परम्परा से न्यायपूर्ण समाज निर्माण की दिशा तो अवश्य दिखाई देनी चाहिए।

हमारे देश के विविध समाजों में सदियों से इन मूल्यों की अखंड प्रतिष्ठा रही है। ज्ञान, सत्य और लोकहित को न्याय, त्याग और प्रेम की कसौटी पर परखा जाता रहा है और न्याय, त्याग और प्रेम को सत्य, ज्ञान और लोकहित की कसौटी पर खरा उतरना ज़रूरी रहा है। संसाधन, प्रक्रियायें, उत्पादन के उपकरण, तकनीकी, प्रणाली, उत्पादन की मात्रा, आपूर्ति, उपभोग आदि के चयन और इस्तेमाल के हर कदम पर समाज में त्याग और प्रेम का आग्रह न्याय

व लोकहित के आधार को मज़बूती देता है। ज्ञान, उसकी गुणवत्ता और स्वीकार्यता का आधार भी इससे ही व्यापक होता है। ये सब मिलकर साधनों और इनके व्यवस्थापन दोनों के ढांचों में वितरित सत्ता के निर्माण का रास्ता बनाते हैं तथा विविध प्रकार की ज्ञान धाराओं में भाईचारा हो पाने के वास्तविक रास्ते खोलते हैं।

यह इस बात पर हमें ले आता है कि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुयें जुटाने के लिए ज्ञान, संसाधन, उत्पादन, वितरण की विधाओं में जितनी विविधता होगी उतनी ही सहजता से समाज के लोग न्यायपूर्ण तरीकों से सबके लिए जीवनावश्यक वस्तुओं को जुटा सकेंगे। दूसरे शब्दों में जीवन संगठन के साधनों में विविधता को मान्यता देने और इनमें भेदभाव अथवा ऊँच-नीच न करने से समाज में न्याय और बराबरी का मार्ग खुलता है। आज ऐसे मार्ग चिन्हित और निर्मित किये जा सकें इसके लिए न्याय (नैतिक), त्याग, भाईचारा और प्रेम बुनियादी जीवनमूल्य बनते हैं।

अगर सबको रोटी, कपड़ा, मकान मिलना है तो इसके साधनों तक भी सभी की पहुँच होनी होगी और ऐसा तभी हो सकता है जब जीवन के साधनों के प्रत्येक अंग में भाईचारा, त्याग और न्याय के मूल्य निहित हों। साध्य और साधन दोनों का ढांचा न्याय, त्याग, प्रेम और भाईचारे के मूल्यों पर खड़ा होना होगा। ये बुनियादी मूल्य स्वायत्तता, सामान्य जीवन, लोकविद्या और स्वदेशी जैसे विचारों को समाज संगठन के ठोस आधार बनाते हैं। ये आधार जितने व्यापक होंगे उतने ही न्याय, भाईचारे और प्रेम के भाव, मूल्य और इन पर आधारित व्यवस्थाएं मज़बूत होंगी।

आज राजनीति, व्यापार, आधुनिक-उद्योग, प्रशासन, सेवा, शिक्षा, चिकित्सा आदि लगभग सभी क्षेत्रों के ढांचे ‘मुनाफे की निरंतर वृद्धि’ के बुनियादी पर खड़े हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है की न्याय, त्याग, और भाईचारे जैसे मूल्य मर गए हैं। इनका समकालीन जीवंत रूप सामान्य जीवन में प्रकट होता रहता है और मनुष्य की संवेदनाओं, आपसी सम्बन्ध, सृजन और कलाक्रियाओं में अभिव्यक्ति पाता है। ये संवेदनायें, क्रियाएं और कृतियाँ मिलकर ही सत्य-असत्य, नैतिक-अनैतिक के तर्क का वो आधार बनाती हैं, जो समाज के लिए न्याय के रास्ते प्रशस्त करता है। जीवनमूल्य और जीवन संगठन के आधार परस्पर निर्भर हैं, एक दूसरे को गढ़ते हैं, पुष्ट करते हैं और एक

नैतिक, गतिशील, सक्रिय और न्यायपूर्ण विश्वदृष्टि की बुनियाद बनते हैं, जिसमें ‘भौतिक सुविधाएँ’, उनको ‘जुटाने के साथन’ और ‘जीवन-संगठन’ के उत्सर्गकारी रूप आकार लेते नज़र आते हैं। ऐसे समाज में अतिरिक्त उत्पादन का मूल्य संवेदना, त्याग और न्याय आदि के विवेकपूर्ण संतुलन से बनता है। इन मूल्यों पर खड़े समाज ही व्यक्ति, परिवार, जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, नस्ल, प्रदेश, देश आदि के प्रति कर्तव्यों को निभाते हुए भी इनकी सीमाओं को लांघकर समग्र के प्रति कर्तव्य को पूरा कर पाते हैं।

यह बात गौर करने की है कि आज चल रहे किसान आन्दोलन में ऐसे समाज को गढ़ सकने के भ्रूण हैं। ये भ्रूण विकसित हों और व्यापकता ग्रहण करें तो निश्चित ही एक बेहतर दुनिया बनाने की उम्मीद की जा सकती है। किसान, कारीगर, आदिवासी, मज़दूर परिवार मिलकर देश का एजेंडा तय करें इसके लिए अब मार्ग खुल गया है।

समाज के पुनर्निर्माण की दिशा

किसान आन्दोलन ने गाँव, किसान, कारीगर, मज़दूर समाजों को एक साथ लेकर और बृहत् समाज का समर्थन हासिल कर आन्दोलन के नेतृत्व की संगठन/सञ्चालन की क्षमताओं को सामने लाया है। अगर लोकोन्मुख समाज और देश का निर्माण होना है तो इन समाजों के हाथ में बांडोर होनी होगी। किसान आन्दोलन का पूरा माहौल निश्चित ही हमें हमारी जड़ें, हमारी विरासत, हमारे मूल्य और जीवन दर्शन की जमीन पर लौटने और समाज का पुनर्निर्माण करने का आवाहन करता नज़र आता है।

हम किसान आन्दोलन की ऊपर लिखी बातों के संकेतों को संजोने का प्रयास करते हुए न्याय, त्याग व भाईचारे की बुनियाद पर, लोकविद्या दर्शन और लोकविद्या आन्दोलन के अनुभव के आधार पर समाज के पुनर्निर्माण और देश के भविष्य को संवारने का एक नज़रिया यहाँ रखना चाहेंगे। यह नज़रिया भविष्य के समाज निर्माण का एक काल्पनिक चित्र ही है, लेकिन इसके हर अंग में गर उसके ज्ञानी और जानकार (लोकविद्या के स्वामी) समाज/व्यक्ति ज्ञान और विचारों के रंग भरेंगे और समाज परिवर्तन के संवेदनशील कार्यकर्ता उसके हर पक्ष को गहराई से समझेंगे तो यह चित्र जीवंत हो उठेगा।

समाज-पुनर्निर्माण के इस नज़रिए को हम निम्नलिखित पांच खम्भों की मदद से स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

१. जीवनावश्यक वस्तुयें : रोटी, कपड़ा, मकान
२. जीवन के साधन : ज्ञान, संसाधन, उत्पादन, आपूर्ति
३. जीवन मूल्य : न्याय (नैतिक सत्ता), त्याग, प्रेम, भाईचारा
४. जीवन संगठन के आधार : सत्य, सामान्य जीवन, स्वायत्तता, लोकविद्या, स्वदेशी
५. संगठन इकाई के आधार : भौगोलिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, सांस्कृतिक क्षेत्र, अन्य

समाज के उपरोक्त प्रमुख स्तम्भ, इन स्तंभों के विविध अंग और उनके आपसी संबंधों का अनुमान लगाने के लिए ही उपरोक्त बिन्दुओं की मदद से एक चित्र बनाने का प्रयास है। उद्देश्य इस बात को रेखांकित करने का है कि न्याय, त्याग, प्रेम और भाईचारा के जीवनमूल्य शेष चारों स्तंभों के हर अंग के अस्तित्व, कार्यशीलता और पुनर्निर्माण में निर्णायक भूमिका में होंगे और जीवन मूल्यों के रूप भी अन्य स्तंभों के अंगों की गति में आकार लेंगे। यहाँ नहीं बल्कि हर स्तम्भ के विविध अंग अन्य स्तंभों के अंगों से निरंतर गतिशील संबंधों में ही निर्मित होते देखे जायेंगे। हालाँकि यह चित्र मोटा और यंत्रवत् जान पड़ता है, लेकिन अगर जीवों के शरीर से इसकी तुलना करें तो शायद यह सहज जान पड़ेगा। जिस तरह शरीर के हर अंग का एक निश्चित कार्य तय है लेकिन सभी अंग हर अंग से संपर्क में हैं और उसकी ज़रूरतों को पूरा करने का कार्य करते हैं, यह कुछ कुछ वैसा ही है।

एक महत्वपूर्ण बात और है जो इस चित्र में दर्शाई नहीं जा सकी है, जिसे अमीर खुसरों ने बहुत सुन्दर ढंग से रखा है।

खुसरो बाजी प्रेम की, जो मैं खेली पी के संग।

छाप तिलक सब छीन ली रे, मोसे नैना मिलाइके।

यानि यह कि ये जीवनमूल्य, जीवन-संगठन के हर अंग और हर इकाई के लिए इस ढंग से कार्य करने का आदर्श रखते हैं, जिसमें वे अपनी पहचान समग्र में समर्पित कर दें।

स्पष्ट है की यहाँ न्याय और भाईचारा के मूल्य समाज और जीवन के मूल्य हैं न कि डेमोक्रेसी के तहत मान्य, जो मात्र किन्हीं विशेष वर्ग अथवा

कानून के तहत माने गए हैं। इस भूमि की विरासत और ज्ञान परम्पराओं के आधार पर बना यह चित्र एक न्यायपूर्ण समाज के बारे में सोचने के रास्ते बनाने का प्रयास है।

अंत में : किसान आन्दोलन ने ‘अन्न’ का सवाल ‘न्याय’ से जोड़ा है, यह आज और आने वाले दिनों में साम्राज्यवादी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और आर्थिकी का महत्वूर्ण मुद्दा बन रहा है। ठीक उसी तरह से जैसे गांधी जी के समय ‘वस्त्र’ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार का आधार बना था। क्या हम अपनी संघर्ष की ज्ञान परम्पराओं के बल पर नितनवीन रास्ते नहीं पहचानेंगे?



लोकविद्या जन आन्दोलन

जो लोग स्कूल कालेज नहीं गये वे भी ज्ञानी हैं।

इनका ज्ञान लोकविद्या कहलाता है।

किसान, कारीगर, आदिवासी, मछुआरे,
ठेला-पटरी-गुमटी वाले, छोटे दुकानदार, महिलायें
और तमाम तरह की सेवा और मरम्मत
का कार्य करने वाले लोग व समाज ज्ञानी हैं।
ये लोकविद्या-समाज के प्रमुख अंग हैं।
लोकविद्या-समाज की एकता में ही
मनुष्य और देश का सुनहरा भविष्य है।

मानव समाज की संरचना : व्यक्ति, समाज, ज्ञान और धर्म

कृष्ण गांधी

इस लेख में समाज की संरचना, उसमें व्यक्ति का स्थान, उसका ज्ञान और इनके आपसी रिश्तों के बारे में महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं। ज्ञान, जीवनमूल्य, धर्म, लोकधर्म के सकारात्मक बल पर आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था व शोषण से मुक्ति और स्वायत्तता, सहस्तित्व के आधार से आदर्श भावी समाज निर्माण का समग्र चिंतन है।

१. मानव समाज मूलतः चार इकाइयों से गठित है: १. व्यक्ति, २. परिवार ३. समाज (social formation, community) और ४. राष्ट्र। यह आज की स्थिति है। लेकिन यह हमेशा ऐसी नहीं थी। दुनिया में राष्ट्रों का निर्माण पिछले करीब पांच-छः सौ वर्षों में हुआ, और उसकी शुरुआत यूरोप में हुई।
२. व्यक्ति की इकाई एकांकी और अविभाज्य है। मानव समाज की मूल इकाई भी वही है। परिवार, समाज और राष्ट्र व्यक्तियों के समूहों से निर्मित हैं। पूंजीवाद के अस्तित्व में आने के बाद इकाई के रूप में व्यक्ति का महत्व परिवार और समाज दोनों की तुलना में बढ़ गया है। आधुनिक राष्ट्रों के लिखित संविधानों में व्यक्ति के अधिकारों का स्पष्ट और व्यापक उल्लेख हैं लेकिन परिवार या समाज के अधिकारों का ऐसा स्पष्ट और व्यापक उल्लेख नहीं है। एक व्यक्ति – एक वोट की परिपाटी पूंजीवाद की देन है। और इसका भी योगदान रहा है व्यक्ति के महत्व को बढ़ाने में।
३. सामान्यतः एक व्यक्ति एक ही एकल परिवार का सदस्य, और एक ही राष्ट्र का नागरिक होता है। पर एक व्यक्ति एक ही समय अनेक समाजों का सदस्य हो सकता है।
४. भारत में हजारों समाज, परंपरागत और आधुनिक दोनों, मौजूद हैं। इन समाजों को दो प्रमुख वर्गों में बाँट सकते हैं: एक खास क्षेत्र तक सीमित

- समाज और क्षेत्र निरपेक्ष समाज। क्षेत्र सीमित समाज के उदहारण हैं - गाँव, मोहल्ला, कस्बा, अंचल।
५. क्षेत्रीयता या आंचलिकता का आधार एक सामान भौगोलिक-मौसमी-कृषकीय वातावरण होता है और वहां के निवासियों की एक भाषा, एक संस्कृति, एक जैसे रीतिरिवाज होते हैं। विदर्भ, बुंदेलखण्ड, मिथिला अंचल के उदहारण हैं।
 ६. क्षेत्र निरपेक्ष समाज रिलिजन, जाति और व्यवसाय के आधार पर गठित होते हैं। सिख समाज, लिंगायत समाज, बौद्ध समाज, ब्राह्मण समाज, इंडियन मेडिकल एसोसिएशन (आय एम ए) क्षेत्र-निरपेक्ष समाज के उदहारण हैं।
 ७. सामान्यतः कई क्षेत्र निरपेक्ष समाज के सदस्य एक साथ एक ही गाँव, मोहल्ला या अंचल में रहते हैं।
 ८. प्रत्येक समाज के अपने खास रीति-रिवाज, परंपराएँ, आस्थाएँ, इतिहास, पौराणिक साहित्य, और विश्वदृष्टि होती है, जो समाज के सदस्यों द्वारा स्वीकृत साझा विरासत है। संक्षेप में प्रत्येक समाज की अपनी खास ज्ञान-प्रणाली होती है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती रहती है, और जिसका संवर्धन वह समाज अपने क्रियाकलापों के माध्यम से निरंतर करता रहता है।
 ९. प्रत्येक समाज की आर्थिक खुशहाली मोटे तौर पर समाज के सदस्यों के आपसी सहयोग पर निर्भर है। क्षेत्र-सीमित समाज जैसे गाँव, कस्बा और अंचल के लिए विशेषकर यह बात लागू है। समाज के सदस्यों के बीच वस्तु एवं सेवाओं के आपसी न्यायपूर्ण विनिमय के माध्यम से यह सहयोग परिलक्षित होता है।
 १०. प्रत्येक समाज में कई परस्पर आश्रित वर्ग समाहित हैं। उदहारण केलिये एक परंपरागत गाँव में छोटे व्यापारी, विभिन्न व्यवसायों से जुड़ी जातियां, खेतिहार मजदूर और किसान गाँव की उत्पादन व्यवस्था में परस्पर पूरक भूमिकाएं निभाते हैं, हालाँकि ऐसी व्यवस्थाएं पूंजीवादी विकास के चलते समाप्त हो रही हैं।
 ११. वर्ग और समाज का अंतर समझना यहां ज़रूरी हो जाता है। उत्पादन के

साधनों के साथ संबंध के आधार पर वर्ग की परिभाषा की जाती है। मार्क्स के अनुसार मानव इतिहास की प्रगति वर्ग संघर्षों से तय होती हैं, पर यह बात औपनिवेशिक आधिपत्य के खिलाफ देशज समाजों द्वारा किये गए संघर्षों पर लागू होती नजर नहीं आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव इतिहास की प्रगति वर्ग संघर्षों से ज्यादा समाजों के बीच के संघर्षों से निर्धारित होती आयी है।

१२. यूरोप की औद्योगिक क्रांति के बाद पूँजीवादी केंद्रित उत्पादन प्रणालियाँ दुनिया पर हावी हो गईं। पूँजीपति वर्ग शुरू में राष्ट्रों के दायरे में विकसित हुए, पर आज दो सौ साल बाद पूँजीवाद राष्ट्रीय पहचान त्यागकर अंतर्राष्ट्रीय या वैश्विक शक्ति ले चुका है। चंद मल्टीनेशनल कंपनियां अंतर्राष्ट्रीय बाजार में वस्तु एवं सेवाओं का उत्पादन और वितरण नियंत्रित कर रही हैं। राष्ट्रीय सरकारें अब उनके हाथों की कठपुतली बन चुकी हैं।
१३. लेकिन पूँजीवादी समाज की चर्चा कम ही पढ़ने सुनने को मिलती है। हालाँकि वे सारे वर्ग जिनका हित पूँजीवादी उत्पादन प्रणालियों से जुड़ा है, जैसे पूँजीपति, फैक्टरी मज़दूर, प्रबंधन-कार्य से जुड़े लोग, पूँजी की व्यवस्था करनेवाले बैंकर, निवेशकर्ता आदि पूँजीवादी समाज के हिस्से हैं। इन्हें हम आधुनिक अर्थव्यवस्था का संचालन करनेवाले लोगों का समाज मान सकते हैं। किसान आंदोलन ने पूँजीवादी समाज को ‘इंडिया’, तथा शेष सारे समाजों से बने देश को ‘भारत’ नाम दिए हैं।
१४. भारी मशीनों, अपार पूँजी, केंद्रित उत्पादन, संस्थागत ज्ञान इन सबका सम्मिलित रूप पूँजी होती है। इसमें मुख्य भूमिका संस्थागत ज्ञान की है। जिसके अनुसार पूँजी के शेष घटकों का प्रबंधन किया जाता है।
१५. न राज्य-सत्ता (राष्ट्रीय सरकार) और न पूँजीवादी बाजार किसान समाज को विषम विनिमय की समस्या से निजात दिलाने में समर्थ हैं। यह इसलिए कि बाज़ारों का नियंत्रण राष्ट्रीय सरकारें करती हैं, और ये सभी स्वयं वैश्विक मल्टीनेशनल कंपनियों की गुलाम बन चुकी हैं।
१६. सामान्यतः विषम-विनिमय की स्थिति तब होती है जब समाजों के आपसी संबंधों में संस्थागत भेदभाव स्थापित हो चुका हो, जिसे सतत पोसते रहने का काम व्यवस्था की हर संस्था करती है। इस भेदभाव का

जन्म ‘हम बनाम तुम’ (us versus them) की बहिष्कारवादी भावना से होता है। इस द्वन्द्व में विजयी समाज पराजित समाज पर अपनी ज्ञान-प्रणाली थोपता है। और थोपी हुई ज्ञान-प्रणाली द्वारा भेदभावपूर्ण व्यवहार को न्यायोचित ठहराने और सुदृढ़ करने की कोशिश की जाती है।

१७. यूरोपीय देशों द्वारा शेष दुनिया पर औपनिवेशिक आधिपत्य स्थापित करने के बाद अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपनी ज्ञान-प्रणाली (आधुनिक विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी का संस्थागत ज्ञान) गुलाम बनाये गए देशज समाजों पर थोप दी और उनकी ज्ञान-प्रणालियों को नष्ट करने की पूरी कोशिश की। देशज समाजों के जीवनमूल्यों (धर्म, नैतिक आचार संहिता) के स्थान पर पूंजीवादी मूल्यों की स्थापना की। इस कार्य हेतु शुरू के दिनों में खिश्चन रिलिजन का भी प्रयोग किया गया।
१८. न केवल किसान समाज, बल्कि आदिवासी समाज, कारीगर समाज, दलित समाज, महिला समाज ये सारे समाज भी पूंजीवादी समाज के भेदभावपूर्ण नीति के शिकार हैं। इन समाजों के ज्ञान के स्रोत उनके दैनिक क्रियाकलाप, पूर्व की पीढ़ियों से विरासत में मिला ज्ञान, स्वयं का अनुभव आदि हैं, जो आधुनिक पूंजीवादी संस्थागत ज्ञान से पृथक है। यह उनकी लोकविद्या है। यह लोकविद्या समाज में विकेन्द्रित वितरित अवस्था में स्थित है। जिस प्रकार पूंजीवादी समाज शेष समाजों पर हावी हैं, उसी प्रकार पूंजीवादी केंद्रित एवं संस्थागत ज्ञान भी लोकविद्या पर हावी है।
१९. गुलाम बनाये गए उपरोक्त सारे समाजों का सामान्य शत्रु वैश्विक इजारेदार पूंजीवाद है। अतः अपने सामान्य शत्रु को परास्त करने के संघर्ष में ये सभी समाज शामिल हों, यह संभव भी है, आवश्यक भी है। ऊँच-नीच रहित, शोषण-मुक्त, सम-विनियम पर आधारित, भावी खुशहाल समाज की स्थापना लोकविद्या समाज का लक्ष्य है।
२०. प्रत्येक समाज ने अपने ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर दुनिया से व्यवहार करने की एक समझ बनायी है जिसे मोटे तौर पर उस समाज की ज्ञान प्रणाली का नाम दिया जा सकता है। समाज के सदस्यों के

आपसी व्यवहार, समाज के सदस्यों का अन्य समाजों के सदस्यों के साथ व्यवहार, और समाज के सदस्यों का प्रकृति के साथ व्यवहार ये सभी उस समाज की ज्ञान प्रणाली द्वारा निर्धारित होते हैं।

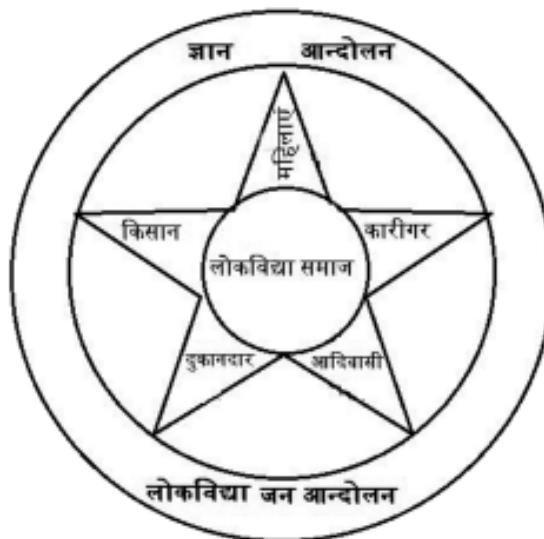
२१. उपरोक्त ज्ञान प्रणाली के दो पहलू हैं, एक नैतिक पहलू, अर्थात् धर्म (यहाँ धर्म शब्द का मतलब रिलिजन नहीं है) या नैतिकता पर आधारित आचार संहिता, जिसके अनुसार सारे व्यवहार किये जाते हैं; और दूसरा, व्यवहार का तकनीकी पहलू जो व्यवहार विशेष के करने की विधि या विद्या होता है।
२२. धर्म या नैतिकता आधारित आचार संहिता जिसके अनुसार समाज का व्यक्ति दुनिया से व्यवहार करता है, उसके कई गुण हैं। जैसे करुणा, अहिंसा, प्रेम, सच्चाई आदि। इन गुणों में से न्याय, त्याग, भाईचारा ऐसे तीन गुण हैं जिनका महत्व सामाजिक जीवन के लिए सबसे अहम है, और जिन पर शेष गुण आधारित हैं।
२३. लोक विद्या समाज ऐसे सारे समाजों का संग्रह है, जो प्रभावी पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा शोषित हैं। इस लोकविद्या समाज का हर व्यक्ति नैतिकता, अर्थात् धर्म पर आधारित आचार संहिता, में आस्था रखता है। साथ साथ वह स्वयं का और अपने समाज के सदस्यों का जीवन समृद्ध और खुशहाल बनाने के लिए आवश्यक ज्ञान भी रखता है। ऐसे लोकविद्या समाज के सदस्य को हम लोकविद्याधर कह सकते हैं। वह अपने ज्ञान के बदौलत अपने और अपने समाज को शोषण से मुक्ति दिलाने में सक्षम है।
२४. समाजों के बीच के तथा समाज के सदस्यों के बीच के दोनों प्रकार के भेदभावपूर्ण व्यवहार का खात्मा तब सम्भव हो पायेगा जब सारे समाज और उनके सदस्य न्याय, त्याग और भाईचारा इन तीनों मूल्यों को अपने जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों के रूप में आत्मसात करेंगे। इस प्रकार सभी समाजों के बीच के संबंधों को व्यवस्थित करने वाले एक सर्वमान्य लोकधर्म की दिशा में मानवता आगे बढ़ सकेगी।
२५. इस प्रकार के सर्वमान्य लोक धर्म की स्थापना की दिशा में आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक समाज का विकास स्वतंत्र और

स्वायत्त हो। इसके साथ साथ यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक समाज की ज्ञान-प्रणाली अन्य किसी भी समाज की ज्ञान-प्रणाली से गौण न मानी जाय। व्यवहार में इस सिद्धांत का क्रियान्वयन तब होगा जब प्रत्येक समाज के उत्पादन एवं सेवाएं अन्य समाजों के उत्पादनों एवं सेवाओं से कमतर न मानी जाय।

२६. गुलामी के शिकार समाजों के मुक्ति संग्रामों में जिस शोषण-मुक्त समाज की कल्पना की जाती है, उसमें कुछ संकल्पनाएँ बार बार दोहराई जाती हैं – जैसे स्वराज (समाज का स्व-शासन), स्वायत्तता, स्वदेशी, विकेन्द्रित और वितरित व्यवस्थाएं, न्यायपूर्ण विनियम, ऊँच-नीच का अभाव, न्याय-त्याग-भाईचारा जैसे मूल्य। इनमें से कुछ संकल्पनाएँ समाजों के आपसी संबंधों के साथ साथ व्यक्तियों के आपसी संबंधों पर भी लागू हो सकती हैं, जैसे स्वराज।
२७. न्यायपूर्ण शोषण-रहित समाज की स्थापना ऐसा अंतिम लक्ष्य नहीं है, जिसे किसी भी तरीके (साम, दंड, भेद) से प्राप्त किया जा सके। शोषण-मुक्त समाज की प्राप्ति के साधन या मार्ग भी न्यायपूर्ण व शोषण-मुक्त हों यह भी लाजिमी है। अहिंसा, लोगों की भागीदारी, विकेन्द्रित निर्णय प्रक्रिया और सर्वसम्मति पर जोर, जैसे साधनों के ज़रिये ही लक्ष्य की प्राप्ति संभव है।
२८. दिल्ली की सीमाओं पर हाल में चले किसान आंदोलन में उपरोक्त कई बातें देखने को मिली हैं। यह आंदोलन किसान समाज के ऊपर पूँजीवाद द्वारा थोपी गई विषम व अन्यायपूर्ण विनियम व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की अभिव्यक्ति है।
२९. निष्कर्ष यह है कि भावी सामाजिक संरचना ऐसी हो जिसमें सारे समाजों का दर्जा बराबर हो। प्रत्येक समाज अन्य किसी भी समाज के मातहत जीने के लिए बाध्य न हो, अन्य समाजों के साथ बराबरी का दर्जा प्राप्त करे और सह-अस्तित्व कर पाये। यह बात समाजों की ज्ञान-प्रणालियों के परस्पर संबंधों पर भी लागू होगी।
३०. इस प्रकार आदर्श मानव समाज में अनेक स्वायत्त समाज सह अस्तित्व में रहेंगे। प्रत्येक समाज अपनी स्वायत्तता बरकरार रखते हुए अन्य

समाजों की स्वायत्तता का हनन नहीं करेगा। हर समाज किसी भी अन्य समाज पर आधिपत्य न जमाने के सिद्धांत का अनुसरण करेगा। अर्थात्, स्वायत्त समाजों का स्वायत्त समूह (autonomy of autonomies) के रूप में मानवता रहेगी।

३१. दुनिया में मौजूद सभी लोकविद्या समाज कैसे वैश्विक इज़ारेदार पूँजीवाद के चंगुल से स्वयं को मुक्त करेंगे यह एक पेचीदा सवाल है। दुनिया के विभिन्न भागों के लोक विद्या समाजों के प्रतिनिधियों को आपस में मिलकर इस सवाल का समाधान निकालना होगा। महाद्वीपों, संस्कृतियों, और ज्ञान प्रणालियों के फासलों को पार कर एक सर्वमान्य लोक धर्म को आधार बनाकर आगे का रास्ता तय करने की ज़रूरत है।



स्वायत्तता, ज्ञानी समाज और स्वराज

गिरीश सहस्रबुद्धे

स्वायत्तता उस सामुदायिक मानवीय रचना में मूर्ति-रूप में बसती है, जिसे इस जमीन पर तमाम भाषाओं में 'समाज' या इससे मिलते-जुलते किसी नाम से पहचाना जाता है। स्वायत्तता सशक्त अवधारणा है। वह मात्र राजनीतिक सत्ता की श्रेणी नहीं बल्कि उसमें तो राजनीतिक सत्ता, या किसी भी सर्वव्यापक सत्ता का विघटन और विसर्जन अभिप्रेत है। राजनीतिक सत्ता का बोल बाला भले ही दुनिया भर में हो, स्वायत्तता की सत्ता का मर्म कुछ और है!

प्रस्तावना

किसान की स्वायत्तता पर एक अंतिम बुलडोज़र चलाने और किसान समाज से बाजारी ताकतों के सामने पूरी तरह घुटने टिकवाने के राज्यसत्ता के प्रयासों के सामने एक साल से लम्बे चले किसान आन्दोलन ने बड़ी चुनौती खड़ी कर दी है। तीन कृषि कानूनों की वापसी ने इस चुनौती को रेखांकित किया। एक किसान समाज ही है, जो अपने वजूद के लिए राज्य सत्ता का मोहताज नहीं। किसानों ने कहा कि ये कानून पारिवारिक खेती, खाद्य संप्रभुता, भाईचारा और उनके कुल समाज पर कुठाराघात हैं। न ही ये कानून गरीबों के लिए खाद्य सुरक्षा देते हैं। उलटे उनके कारण अन्न तिजोरी में बंद होगा, और भूख का व्यापार होगा। किसान की स्वायत्तता का अंतिम गढ़, अर्थात् खेती की क्रिया में भी किसान की निर्णायक दखल न रहेगी।

स्वायत्त समाजों पर आधुनिक व्यवस्था के आघात

पिछले तीन शतकों से दुनिया भर के स्वायत्त समाजों के अस्तित्व पर हो रहे उपनिवेशवाद के आघात पिछले चार दशकों से कंप्यूटर और सूचना प्रौद्योगिकी के प्रसार के साथ और अधिक विकराल रूप धारण कर रहे हैं। परिणाम विश्व के सुदूर हिस्सों तक वैश्विक बाजार और वैश्विक वित्त-पूँजी की पहुँच और दखल के पुख्ता होने में देखा जा सकता है। लेकिन इस प्रकार की वैश्विक प्रक्रियाओं की यह अनिवार्य जरूरत है कि वित्तीय तथा राजनीतिक ताकत का सतत अधिकाधिक केन्द्रीकरण हो। इस जरूरत को पूरा करने के लिए जो जुमला इस्तेमाल हो रहा है, उसे हम 'विकास-मिथक' कह सकते हैं। विकास इसलिए

कि पूरी प्रक्रिया में महानगरों की बढ़ती चमक-दमक के साथ कुछ चंद लोगों के जीने के तरीके, उनके इस्तेमाल की चीजें आदि थोड़े-बहुत बदल जाते हैं; इसे उन्हें गरीबी-रेखा के ऊपर लाना कहा जाता है। मिथक इसलिए कि अधिकतर लोग पहले से भी अधिक गरीब और मजबूर हो जाते हैं, क्योंकि उनके पास उपजीविका के लिए पहले थे वे काम भी नहीं रह जाते।

प्रश्न यह खड़ा होता है कि विकास-मिथक टिकता कैसे है? वह टिकता है तो दो बातों के मायाजाल पर। एक है वह हास्यास्पद दावा, जो कहता है कि दुनिया भर में मौजूद सारा सच्चा ज्ञान या तो आधुनिक साइंस की विधाओं से ईजाद हुआ है, या फिर उनमें समाया, और बेहतर आत्मसात किया जा सकता है। दूसरा है वह सफेद झूठ, जो कहता है कि अपने स्वायत्त ज्ञान के आधार पर अपने लिए अपना भविष्य बेहतर संवार सकते हों, ऐसे समाजों का कोई वजूद नहीं है। पहला दावा ‘हास्यास्पद’ इसलिए है कि सभी प्रकार की आधुनिक राज्यसत्ताओं की सारी राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक ताकत अगर इसके पीछे न खड़ी होती, तो वह अपने बल पर पल भर भी न टिकता। दूसरा ‘सफेद झूठ’ इसलिए है कि अगर आप संगठित क्षेत्र के बाहर अपने आसपास कहीं भी नजर फेरें, तो सिर्फ ऐसे ही समाज नजर आयेंगे, जो मात्र उनके अपने ज्ञान के बल पर, और हौसला पस्त करने वाली तमाम वर्तमान विपरीत परिस्थितियों में भी, उत्पादक क्रियाओं के साथ-साथ भाईचारा, विवेकबुद्धि, और अहिंसा पर टिक कर जी रहे हैं। किसान-समाज इसके जीते-जागते सबसे दृश्य उदाहरण हैं। कारीगर, आदिवासी, छोटी पूँजी को लेकर उत्पादक काम और दुकानदारी करनेवाले, उत्पादक और घर के काम चलाती महिलाएं सभी ऐसे ही समाज हैं।

किसान आन्दोलन विकास-मिथक को टिकाने वाले इस जुमले को चुनौती दे रहा है। इस चुनौती में ही इसका ऐतिहासिक स्थान भी है, और सामयिक महत्व भी। भविष्य में न्याय, त्याग और भाईचारे की उम्मीद इसी में बसी हुई है। स्वायत्तता की सोच विकास-मिथक के जुमले की वैचारिक बिसात पर सवाल उठाती है। कहना गलत न होगा कि भावी समाज की परिकल्पना में स्वायत्तता की अवधारणा की अपनी एक निर्णायक जगह होगी। स्वायत्तता उस सामुदायिक मानवीय रचना में मूर्त-रूप में बसती है, जिसे इस जमीन पर तमाम भाषाओं में ‘समाज’, या इससे मिलते-जुलते किसी नाम से पहचाना जाता है, और जो खुद भी अनेक समाजों से बना होता है। हम यहाँ इसकी चर्चा इसी

आस्था के साथ करेंगे। स्वायत्तता की धारणा और वर्तमान सन्दर्भों में उस धारणा को लेकर हम किस प्रकार के समाज की बात कर सकते हैं, इस विषय में कुछ कहने की इस लेख में कोशिश है। इस सशक्त धारणा पर सार्थक बहस हो, यही मंशा है।

राजनीतिक स्वायत्तता

अंग्रेजी शासन से स्वतंत्र होने के बाद देश में ऐसे कई संघर्ष हुए जिनके लक्ष्य विभिन्न भाषाओं, क्षेत्रों और समाजों की अलग पहचान को मान्यता दिलवाना, विकेंद्रीकरण, छोटे राज्यों का निर्माण, स्व-शासन, इत्यादि थे। मिसाल के लिए, उत्तर-पूर्व के आदिवासी इलाकों में केंद्र-शासित प्रदेशों, और बाद में नव-गठित राज्यों के अंतर्गत उन स्वायत्त समितियों का गठन, जिन्हें क्रियान्वयन, विधायी, वित्तीय और न्यायदान के तमाम अधिकार कानूनन बहाल हुए। या, निकट का उदाहरण तेलंगणा राज्य के निर्माण का दिया जा सकता है।

कहा जा सकता है कि ये राजनीतिक स्वायत्तता की माँग के विभिन्न रूप हैं, जो आम प्रशासन और शासन के लिए नए ढाँचे, नई संस्थाएं, और नए सिद्धान्त ईजाद करते हैं। इतिहास बताता है कि हर राष्ट्र (नेशन-स्टेट) के अंतर्गत बढ़ते सत्ता-केन्द्रीकरण की किसी अवस्था में ये माँगें अपरिहार्य रूप से उठती हैं। इसके साथ ही राष्ट्र की तात्कालिक सच्चाई इन माँगों को परिभाषित करती है, और उनकी सफलता को सीमित भी। राजनीतिक स्वायत्तता के लिए हुए तमाम संघर्षों के अध्ययनों ने इन सभी बातों पर प्रकाश डाला है। इन अध्ययनों में स्वायत्तता को 'सत्ता की एक श्रेणी' मानकर घटनाओं को समझने के प्रयास हुए। हम यहाँ उन कुछ बातों का जिक्र करेंगे, जिन्हें इन संघर्षों की वैचारिक उपलब्धि माना जा सकता है, और जिनका ज्ञान-परिप्रेक्ष्य में स्वायत्तता की समझ से कुछ पास का रिश्ता बैठता है।

राजनीतिक स्वायत्तता के संघर्षों की उपलब्धि

पहली बात यह कि स्वायत्तता की राजनीति आपसी संवाद के आधार बनाती है। संवाद की प्रेरणा न्याय की खोज से आती है। लेकिन पूरा न्याय हो, इसकी शर्त यह है कि संवाद को कानून और संविधान की तात्कालिक अधिकृत व्याख्याओं- वे चाहें उदारवादी हों, या राष्ट्रवादी - में जकड़ा नहीं जा सकता। हालांकि किसान आन्दोलन किन्हीं भी पुराने अर्थों में स्वायत्तता की राजनीति

नहीं कर रहा है, यह भी साफ़ है कि किसान उनके समाज और खेती क्रिया की स्वायत्तता पर आधात से ही आंदोलित थे, और हैं। किसानों ने लगातार सरकार से आपसी चर्चा की बात कही, और आज भी कह रहे हैं। कृषि कानूनों ने किसानों के सामने जो पेंच पैदा किया उसका वास्ता कानून से नहीं, बल्कि नीतियों से है, और किसी भी सरकार का कर्तव्य बनता है कि इन नीतियों पर, और किसानों की खुशहाली पर किसानों के साथ खुलकर बातचीत करे। यह नहीं हो पाया, क्योंकि पूर्ण न्याय की शर्त मानने के लिए सरकार तैयार नहीं थी।

दूसरी बात यह है कि स्वायत्तता की धारणा भावी समाजों के लिए एक संगठनात्मक विचार सामने रखती है। ठोस रूप में इस विचार का संदर्भ विभिन्न समाजों में आपसी संवाद की वह परम्परा है, जिसका सरोकार आपसी रिश्ते, लेन-देन, सहकार, तांत्रिकी और संसाधनों का उचित सामूहिक उपयोग इत्यादि से होगा। यह कर पाने के लिए ऐसी सामाजिक संस्थाएं बनाने की जरूरत होती है जिनके माध्यम से यह परम्परा स्थापित होगी। तीसरी, इसी से जुड़ी हुई बात है बृहत् समाज में अंदर हर क्षेत्र में, हर स्तर पर स्वायत्तता की अनिवार्यता को मान्यता। हमने ऊपर कहा कि हम अपने देश में जिसे 'समाज' कहते हैं, उसमें स्वायत्तता मूर्त-रूप में बसती है। बृहत् समाज अनेक समाजों से बना है, जिनमें और छोटे समाज समाये हुए हैं, और यह भी कि ये सभी स्वायत्त हैं। जाहिर है कि ये सब छोटे-बड़े समाज अपने जीवनयापन के प्रकारों में, तौर-तरीकों और आस्थाओं की बारीकियों में, अपने ज्ञान और तांत्रिकी में, अपनी कलाओं और विशिष्ट हुनरों में एक दूसरे से बिलकुल अलग हो सकते हैं। अन्य समाजों से जिन रिश्तों में वे बंधे हैं, उनके केंद्र-बिंदु भी एकदम भिन्न किस्म के हो सकते हैं। बल्कि हमारे बृहत् समाज की अंतर्निहित विविधता का संकेत यही है कि कमोबेश कुछ ऐसा ही था, और आज भी किसी सीमित अर्थ में ऐसा है। हर स्तर पर स्वायत्तता की मान्यता का तकाजा यह है कि इस विविधता में कोई ऊँच-नीच, या छोटे-बड़े का रिश्ता न हो। संवाद और क्रिया में कोई वर्चस्व-भाव न हो। किसी की हस्ती दबाने, मिटाने या किसी 'बाहरी' ताकत से समझौते के बल पर एकतरफा अपने हित में बदलने की मंशा न हो। बल्कि रुख एक-दूसरे की स्वायत्तता संजोने का हो। इसे हम 'स्वायत्त इकाइयों की स्वायत्तता' कह सकते हैं। इस तरह स्वायत्तता का वास्ता सिर्फ संगठन से नहीं, बल्कि ज्ञान और नैतिकता से भी है।

समाज की परिकल्पना में स्वायत्तता का मौलिक स्थान

ऊपर हमने जिन बातों की चर्चा की वे राजनीतिक स्वायत्तता के संघर्षों के अनुभवों की देन तो अवश्य हैं, लेकिन उनका समाधान शायद मात्र ‘राजनीतिक स्वायत्तता’ में नहीं देखा जा सकता। स्वायत्तता के सन्दर्भ सामान्य जीवन में होने होंगे, न कि मात्र सत्ता-स्थानों में। अगर स्वायत्तता सशक्त अवधारणा है, तो वह राजनीतिक सत्ता की श्रेणी नहीं हो सकती, उसमें तो राजनीतिक सत्ता, या किसी भी सर्वव्यापक सत्ता का विघटन और विसर्जन अभिप्रेत होना होगा। या अगर उसे ‘सत्ता की श्रेणी’ मान भी लें, तब भी बात तो वैसी ही है जैसा कबीर ने राम नाम का अर्थ समझाते हुए कहा था: “दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना”। राजनीतिक सत्ता का बोल बाला भले ही दुनिया भर में हो, स्वायत्तता की सत्ता का मर्म कुछ और है! अगर स्वायत्तता का वास्ता संगठन के अलावा ज्ञान और नैतिकता से भी है, तो लोकविद्या में भी उसका अपना विशेष स्थान है।

स्वायत्तता क्या है?

हमारा आग्रह है कि स्वायत्तता मूल रूप में जैविक सृष्टि के हर जीव का विशिष्ट गुण है। अन्य जीवों की तुलना में मानव जीवन में इस गुण की अभिव्यक्ति अत्यधिक प्रभावशाली है। मनुष्य की स्वायत्तता एक तो उसकी व्यक्तिगत सृजनात्मक क्रियाओं और कल्पना-जगत में मुख्यरती है, और दूसरे, उसकी मौलिक सामाजिकता में। स्वायत्तता नयी बातों के निर्माण की सचेत प्रेरणा भी है, और जैविक साधन भी। चूँकि मनुष्य-जीवन के बारे में सामान्य जीवन से हटकर सोचना व्यर्थ है, निर्माण की हर क्रिया सामाजिक सन्दर्भों में ही घटती देखी जा सकती है। सृजन तथा उसकी परिकल्पना दोनों सामाजिक पर्यावरण में आकार लेते हैं। निर्माण-क्रिया में किसी एक व्यक्ति के अलावा परिवार, या समाजों की परोक्ष या अपरोक्ष भागीदारी होती है। हर निर्माण-क्रिया ऐसी कोई चीज दुनिया में लाती है, जो उस से पहले नहीं थी - चाहे वह कोई फसल हो, या वस्त्र, या खेती का औजार, या कोई गीत, या चित्र, या शिल्प, या भवन, या कोई विचार, या संस्था, या फिर कोई सामाजिक मूल्य।

जाहिर है कि इस सबका अर्थ यह नहीं है कि हर मानवीय क्रिया निर्माण-क्रिया होती है। इसमें ऐसा कोई अभिप्राय देखना सही नहीं होगा! किसी भी प्रकार की हिंसा निश्चित ही निर्माण क्रिया नहीं है। हमारा अर्थ यह भी नहीं है कि

हर निर्माण-क्रिया निर्माता की स्वायत्त क्रिया है। टैंक और परमाणु-बम भी किसी निर्माण क्रिया का ही तो नतीजा हैं! कोई विशिष्ट निर्माण क्रिया, चाहे वह मुख्यतया किसी व्यक्ति की हो, या परिवार, समूह, संगठन, या समाज की, तब तक स्वायत्त नहीं मानी जा सकती, जब तक वह किसी दूसरे व्यक्ति, या परिवार, समूह, संगठन, या समाज की स्वायत्तता को छोट पहुँचाती हो। इस प्रकार की क्रिया तो परजीवी ही हो सकती है, स्वायत्त नहीं। जैसे, कार्पोरेट थेकों पर सीमित क्षेत्र में अनाज की पैदावार आप कितनी ही क्यों न बढ़ा लें, ऐसी खेती स्वायत्त निर्माण-क्रिया तो न कहलाएगी। न वह अनाज 'अन्न' हो पायेगा। उससे तो भूख का व्यापार ही हो सकता है, जिसका नतीजा शुद्ध मुनाफा है। कोई भी स्वायत्त निर्माण-क्रिया अन्य सभी के स्वायत्त अस्तित्व के लिए पोषक ही हो सकती है, उपद्रवी नहीं। स्वायत्त समाजों में शायद इसी तथ्य की पहचान और मान्यता का ठोस रूप सहकार है, सामाजिक रूप न्याय, और नैतिक रूप त्याग और भाईचारा। इसीलिए स्वायत्त क्रिया मात्र 'स्वतन्त्र' क्रिया नहीं है, बल्कि एक जिम्मेदाराना हरकत है।

स्व-निर्णय, स्व-शासन

किसी भी समाज में किसी विशिष्ट संदर्भ में कई वैकल्पिक क्रियाएं संभव हैं। विभिन्न विकल्पों में कुछ जिम्मेदाराना हो सकते हैं, बाकी गैर-जिम्मेदाराना। जिम्मेदाराना विकल्पों में से किसी एक को चुनने की स्वतंत्रता स्वायत्तता की धारणा में अन्तर्निहित है। फ़र्ज़ कीजिये, कोई किसान अपने खेत में कोई नई फसल, या फसल की नई जाति उगाना चाहता है, जिसके कारण हो सकता है कि पडौसी खेतों पर किसी कीटक के हमले की तीव्रता बढ़ जाती है। बीटी कपास पहले जब उगाई गई तब ऐसा ही कुछ हुआ था। इस विषय पर या तो वह पडौसी खेत के किसानों से बात-चीत कर उनकी सहमति माँग सकता है, या संभावित संकट का उनके साथ मिलकर सामना करने का प्रस्ताव रख सकता है, या बिना उनसे कोई बात किये अपना मन-चाहा काम कर सकता है। तीसरा विकल्प पडौसी किसानों की स्वायत्तता पर छोट कर सकता है, और ऐसा करना गैर-जिम्मेदाराना होगा। पहले दो विकल्प यह नहीं करते। अपनी और पडौसी किसानों की स्वायत्तता को बिना हानि पहुँचाये, वह इन दो विकल्पों में से कोई सा चुनने के लिए स्वतन्त्र है; उसका चयन स्व-निर्णय है। स्वधर्म, जिस पर किसी 'धर्म'-विशेष का कोई अनन्य अधिकार नहीं है, को हम स्व-निर्णय के

इसी अर्थ के संदर्भ में समझ सकते हैं। मतलब स्वर्थर्म का आग्रह मनुष्य और समाज की स्वायत्तता का ही नैतिक आग्रह हुआ। पराये हित को नज़रअंदाज किये बगैर जिम्मेदाराना विकल्पों का चयन अगर पूरे समाज की आंतरिक क्रियाओं के संदर्भ में, या दो समाजों के बीच की पारस्परिक क्रियाओं के संदर्भ में किया जा रहा है, तो वह स्व-शासन का एक आयाम होगा।

स्वायत्ता और ज्ञान

कोई बुनकर जब वस्त्र बुनता है, तब वह अपने ज्ञान में नया भी जोड़ता है। हो सकता है कि वह यह काम जिसके लिए कर रहा है उसकी अपनी अलग पसंद है जिसे बुनकर अपने ज्ञान और कौशल से पूरा कर रहा है। हर स्वायत्त निर्माण क्रिया नई बातों के सृजन के साथ उस क्रिया से सम्बंधित ज्ञान में कुछ न कुछ जोड़ती है, और वर्तमान सन्दर्भों में ज्ञान का नवीनीकरण करती है। अन्यथा संगीत में रियाज़ का जो महत्व है, वह न होता। बुनकर भी तो रियाज़ ही कर रहा है!

सारे ज्ञान का प्राथमिक स्रोत स्वायत्त निर्माण क्रियाएँ ही हैं। वे निर्माण-कर्ता के ज्ञान, और समाज में साझा संचित ज्ञान दोनों के एकत्रित प्रयोग से ही संभव हैं। साथ ही वे अपने आप में जो नया ज्ञान जोड़ती हैं, वह भी समाज के ज्ञान-भण्डार में बतौर साझा ज्ञान जुड़ता है। जैसे बुनकर ने अपने काम में अगर बुनाई की कोई नई तकनीक खोज ली, तो वह उसके समाज के अन्य बुनकरों को भविष्य में स्वाभाविकतया उपलब्ध हो जाती है।

लेकिन अगर निर्माण-क्रिया स्वायत्त नहीं है, तो नया ज्ञान किसी स्वाभाविक तरीके से समाज में साझा नहीं होता, बल्कि, अधिकतर बिकाऊ बन जाता है, और निजी मुनाफे का जरिया भी। उदाहरण के तौर पर, दक्षिण अमेरिका के राष्ट्रों पर दबाव डाल कर, या भ्रष्टाचार के सहारे बड़े कार्पोरेटों द्वारा वहाँ की खानों से निकाली जाती लिथिअम धातु को लें। इस लिथिअम को लेकर इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों में लगने वाली नए किस्म की बैटरियाँ बनाने के लिए शोध और उत्पादन कार्य किया जाता है। उससे पैदा नया ज्ञान किसी स्वाभाविक तरीके से उन स्थानीय समाजों में नहीं लौटता, जिनके क्षेत्र से लिथिअम निकाला गया था। वह तो किसी कार्पोरेट की निजी बौद्धिक संपदा बन जाता है! इस प्रकार के ज्ञान का चरित्र समाज में फैले ज्ञान से एकदम अलग है। इलेक्ट्रिक कार बनाने वाली सबसे बड़ी टेस्ला कंपनी ने लिथिअम को लेकर

इस तरह कार-बैटरी बनाने के लिए तांत्रिकी विकसित की। उसी की मदद से वे लेज़र बन रहे हैं, जो लेज़र-निर्देशित मिसाइल में लगते हैं। कौन कह सकता है कि ये मिसाइल उन्हीं देशों पर कभी नहीं दागे जायेंगे, जहाँ से लिथिअम खोदा गया? इस पूरी प्रक्रिया में होनेवाली निर्माण क्रियाएँ अपने हर चरण में स्वायत्तता की कसौटी से कोसों दूर हैं! लिथिअम खानों के विरोधक ठीक यहीं तो कह रहे हैं। हम यह कह सकते हैं कि निर्माण-कार्यों में स्वायत्तता की कसौटी यह निश्चित करती है कि उनकी बदौलत हासिल ज्ञान समाज के साझा ज्ञान के रूप में वापस आएगा और लोकविद्या का हिस्सा बनेगा।

ज्ञानी समाज

व्यक्ति और समाजों की सृजनशीलता के अनगिनत आयाम हैं। उतने ही अनगिनत स्वायत्त निर्माण क्रियाओं के प्रकार भी हैं। किसी भी स्वायत्त बृहत् समाज के अन्दर अनेक स्वायत्त समाज होते हैं, जो समाज के लिए उपयोगी तमाम किस्म के निर्माण-कार्य करते हैं। साम्राज्यवाद द्वारा पिछले कुछ शतकों की स्थानीय समाजों की तोड़-फोड़ छोड़ दें, तो दुनिया के हर कोने में ऐसे ही समाज थे और, सीमित अर्थ में ही सही, आज भी हैं। इन छोटे समाजों ने अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में विशिष्ट ज्ञान पैदा किया, इकट्ठा किया, और आगे बढ़ाया। इस साझा ज्ञान भंडार से उनके लोगों की जो पहचान बनी, उसकी पहुँच उनके भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रही। अन्य स्थानीय समाजों के साथ सहकार ने उन सब के साझा ज्ञान में नए और क्षेत्रीय आयाम जोड़े, जिनसे क्षेत्र के बृहत् समाज की विशिष्ट पहचान बनी। आर्थिक क्रिया, जीवन्यापन, स्व-शासन और प्रशासन के विचार, पारिवारिक, सांस्कृतिक और धार्मिक-नैतिक मूल्य, हक्क और जिम्मेदारी का विचार, विश्व-दृष्टि सभी इनमें शामिल हैं। इन सभी को अंतर्गत समाजों ने अपने-अपने तरीके से अपनाया।

हम कह सकते हैं कि बृहत् समाज तमाम स्वायत्त ज्ञानी समाजों का स्वायत्त ज्ञानी समाज है। इनमें आपस में कोई ऊँच-नीच नहीं है। बृहत् समाज और उसके अंदर के किन्हीं समाजों के बीच भी नहीं, क्योंकि उनका वजूद बृहत् समाज के वजूद में पूरी तरह नहीं समाता। बल्कि, उसके अपने विशिष्ट निर्माण कार्यों और मूल्यों के बल पर क्षेत्र के बाहर भी उसकी अपनी पहचान स्वतन्त्र रूप में अर्थपूर्ण है। जैसे, किसी भी भौगोलिक क्षेत्र के लोहार उस क्षेत्र में जरुरी खास किस्म के औजार बनाते हैं, और उस क्षेत्र की पहचान उनकी भी पहचान

बनती है, लेकिन बतौर लोहार उनकी पहचान अन्य सभी क्षेत्रों के लोहार समाजों के साथ मिली हुई है। खेती की उपज और ज्ञान में भारी विविधता के कारण, किसान समाजों के बारे में तो यह बात और भी स्पष्ट है।

ज्ञानी समाज बनाम ‘ज्ञान-समाज’

जाहिर है कि हम जिसे ज्ञानी समाज कह रहे हैं वह, आज जिसे ‘ज्ञान-समाज’ कहा जाता है उससे किसी भी नज़रिए से एकदम अलग है। आधुनिक समाज ‘ज्ञान-समाज’ है, जो समाज से ज्ञान के अलगाव और उसके प्रबंधन पर खड़ा है। जब कि ज्ञानी समाज का ज्ञान सारे समाज में फैला हुआ है, सारे समाज का साझा ज्ञान है। ‘ज्ञान-समाज’ का ज्ञान आधुनिक शिक्षा संस्थाओं से पाया जाय तभी मान्यता पाता है। समाज से दूर हटकर खड़े किये गए विश्वविद्यालयों और प्रयोगशालाओं में इसका विस्तार होता है, और वहाँ इसका मूल्यांकन भी। इसके उलटे, ज्ञानी समाजों का ज्ञान तो रोजमरा के सामाजिक जीवन में जीता है, और बतौर ‘ज्ञान’ वहाँ उसकी कसौटियाँ भी तराशी जाती हैं। ज्ञानी समाज का ज्ञान लोकविद्या है। लोकविद्या समाज ज्ञानी समाज ही है। ‘ज्ञान-समाज’ में ज्ञान का मॉडल निर्जीव सृष्टि का ज्ञान है, जिसके प्रयोगों में मनुष्य सहित सारे जीव भी निर्जीव वस्तु समझे जाते हैं, और मात्र नियंत्रण या, अधिक से अधिक, सलाह और निर्देशन के हक्कदार होते हैं। ज्ञानी समाज में ज्ञान का मॉडल सजीव सृष्टि का ज्ञान है। मनुष्य-समाज खुद सजीव सृष्टि का एक हिस्सा है। इस मॉडल में धरती-पहाड़-नदियाँ-झरने सभी सजीव समझे जाते हैं और मनुष्य के साथ सहजीवन में भागीदार होते हैं।

स्वायत्तता और स्वराज

ऊपर हमने स्वायत्तता की धारणा को लेकर कुछ बातें कहीं। स्वायत्तता से आम लोग जो कुछ समझते हैं, उसके साथ इन सारी बातों का एक सहज रिश्ता है। यहीं बातें स्वराज की परिकल्पना में भी निहित हैं। जब भी हम ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, या ऐसे समाज की चाह प्रकट करते हैं जिसमें न्याय और भाईचारा है, तब हम, सीमित अर्थों में ही सही, कुछ ऐसी ही बातों की सोच रहे होते हैं। इतने लम्बे काल तक औपनिवेशिक, साम्राज्यवादी और वैश्विक बाजार की ताकतों द्वारा हमारे समाज की स्वायत्त व्यवस्थाओं पर लगातार किये गए आघातों के बावजूद आज भी व्यक्तिगत स्तर पर यह आम चाहत है। अधिकतर ऐसे समाजों के अपने मंचों पर भी यह चाह कभी कभी प्रकट हो जाती

है, जिनकी निरंतरता कमोबेश बाहरी औपनिवेशिक ताकतों द्वारा हमारे समाज की तोड़-फोड़ के पहले से है। यह कैसे संभव है? हो सकता है इसलिए कि ये मूल्य चिरकालीन हैं। या हो सकता है, संत-परम्परा ने उन्हें हमारे सामाजिक जेहन पर गोद दिया है। या, शायद इसलिए कि ये हर जानी समाज के मूल्य हैं। या इसलिए कि परिवार तथा हमारे अपने छोटे समाजों के अन्दर आज भी यही मूल्य हमारा मार्गदर्शन करते हैं।

जो भी हो, लेकिन फिर भी यह आम चाह सार्वजनिक पटल पर पूरी तरह मुखर नहीं हो पाती। सार्वजनिक पटल पर आज 'ज्ञान-समाज' हावी है और उसमें इन मूल्यों पर कोई तूल नहीं है। वहाँ वे न सिर्फ निस्तेज नज़र आते हैं, बल्कि उनका तिरस्कार और मखौल ही मिलता है। इतना ही नहीं, वे 'हारे हुए' माने जाते हैं, और निजी बढ़ोत्तरी में बाधा जान पड़ते हैं। सार्वजनिक पटल वह है जहाँ पर आपसी व्यवहार होता है। अधिकतर व्यवहार वे हैं, जिनमें आप एक निजी व्यक्ति हैं, अर्थात् अपने समाज में आपकी हस्ती का सिर्फ एक हिस्सा। 'ज्ञान-समाज' ने इसके औपचारिक संवैधानिक और कानूनी आधार बना रखे हैं। अगर आप अपने समाज की पहचान के साथ सार्वजनिक पटल पर आते हैं, तो आप सिर्फ उस बन्दर-बाँट में हिस्सा लेने के हकदार हैं, जो आप के समाज को दूसरे समाजों के विरोध में खड़ा करती है। डेमोक्रसी की राजनीति में इस बन्दर-बाँट को न्याय-दान का नाम है। यह 'न्याय' ऐसा छलावा है, जिसे इसी राजनीति के खिलाड़ी 'गंदी राजनीति', 'जातिवाद' इ. कह कर एक दूसरे पर लांछन भी लगाते हैं। इन सब बातों का अर्थ यह हुआ कि 'ज्ञान-समाज' में सार्वजनिक पटल पर स्वायत्तता के दो प्रमुख स्तंभों को ही उखाड़ फेंका गया है। एक स्तम्भ है वह समाज जिसमें हर व्यक्ति की स्वायत्तता उसके ज्ञानी होने के रूप में मुखरती है, और जिसके माध्यम से एक विस्तृत पहचान लेकर दुनिया के साथ उसके रिश्ते बंधते हैं। दूसरा वह, जिसे ऊपर हमने 'स्वायत्त इकाइयों की स्वायत्तता' कहा, और जिसमें सहकार, सम-विनियम, न्याय, त्याग और भाईचारा इन सभी का स्रोत है, वर्चस्ववाद का विरोध है, और जो स्वराज की संस्थाओं का मूल मंत्र है।

प्रश्न यह उठता है कि न्याय और भाईचारे के समाज की, स्वायत्तता और स्वराज की लड़ाई कैसे होगी? कौन लडेगा? क्या कोई ज्ञानी समाज इसकी अगुआई करेगा? ५ जून २०२० को तीन कृषि बिल लाये जाने के बाद पंजाब में

तीन-चार महीने किसानों द्वारा उनका खुला विरोध होने के बावजूद शायद ही किसीने सोचा होगा कि दिल्ली तेरह महीने की घेराबंदी देखेगी, और कई राज्यों के किसान इसमें शामिल होंगे। लेकिन, यह हुआ। सच तो यह है कि यह हुआ इसीलिए ऊपर पूछे सवाल आज पूछे जा सकते हैं। और यह भी कि उनके जवाब तुरंत कल क्या होगा इसमें सीमित नहीं हैं। क्योंकि लड़ाई 'ज्ञान-समाज' के राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक रुझानों को सार्वजनिक पटल से उखाड़ फेंकने की और ज्ञानी समाज के मूल्यों की- न्याय, त्याग और भाईचारे के मूल्यों की- सत्ता कायम करने की है। किसान सत्ता इसी का एक मूर्त रूप है। आन्दोलन ने यह उम्मीद जगाई है कि अन्नदाता इस बृहत् ज्ञानी समाज को 'ज्ञान-समाज' से मुक्ति दिलाने और नया समाज रचने में अगुआई करेगा।



सात सामाजिक महापाप

- १. सिद्धांत विहीन राजनीति**
- २. श्रम विहीन सम्पदा**
- ३. विवेक विहीन मनोरंजन**
- ४. चरित्र विहीन ज्ञान**
- ५. नैतिकता विहीन व्यापार**
- ६. मानवता विहीन विज्ञान**
- ७. त्याग विहीन पूजा**

-महात्मा गांधी

लोकविद्या के दावे मान लिए जाते हैं तो अर्थव्यवस्था कैसी दिखेगी?

अमित बसोले

१. हमारा समाज दो हिस्सों में विभक्त है। एक तरफ वे नब्बे प्रतिशत लोग हैं, जिनका वजूद उपनिवेशवाद के पूर्व काल से है, और जो आज असंगठित अनौपचारिक अर्थव्यवस्था का हिस्सा हैं। दूसरी तरफ वे दस प्रतिशत लोग हैं जिनका आर्थिक और सामाजिक जीवन उपनिवेशवाद की देन है। लोकविद्या विचार ने इन दो हिस्सों के अस्तित्व के बीच के अंतर्विरोध को उजागर किया है।
२. इन दो हिस्सों के बीच ऊँच-नीच को ज्ञान के परिप्रेक्ष्य से देखा जा सकता है। स्कूल-कॉलेज की औपचारिक शिक्षा-प्रणाली का दावा है कि वह बेहतर शिक्षा और हुनर प्रदान करती है, जिनकी उपलब्धि औपचारिक अर्थव्यवस्था में स्थान दिलाना है। इस प्रणाली में शिक्षित लोग दूसरों का आर्थिक जीवन निर्धारित करने का हक अछित्यार कर लेते हैं। आधुनिक शिक्षा के पीछे आज हो रही भागम-भाग देख कर ऐसा प्रतीत होता है की यह फरेब काम कर गया है।
३. लेकिन, औपचारिक अर्थव्यवस्था तो एक सीमाबद्ध जुमला है, जो कभी सर्वसमावेशक था ही नहीं! इसका तो आधार ही बहुसंख्यों का बहिष्करण है। इसकी कार्यप्रणाली का मूल सिद्धान्त है कृत्रिम अभाव पैदा कर 'राशन' की दुकानों में उसे भुनाना।
४. लोकविद्या विचार उस राजनीति की प्रेरणा हो सकता है, जो नब्बे प्रतिशत के लिए दस प्रतिशत की व्यवस्था में जगह बनाने का तर्क प्रस्तुत करने के बजाय, इन दो के बीच ऊँच-नीच की जड़ पर प्रहार करती है।
५. सूचना और संचार प्रौद्योगिकी के प्रसार के बल पर हुए अभूतपूर्व सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों क्षेत्रों में शोषण की तीव्रता में भारी वृद्धि हुई है। फिर भी, इस

प्रौद्योगिकी के प्रयोग से लोकविद्या विचार से प्रेरित आन्दोलनों ने सार्वजनिक पटल पर अपनी एक पहचान भी बना ली है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन परिवर्तनों की बदौलत लोकविद्या विचार से प्रेरित राजनीति के लिए अपनी एक जगह बनी है।

६. लोकविद्या का दावा स्थापित होने का परिणाम यह होगा कि अर्थव्यवस्था दो ज्ञानाधारित हिस्सों में बंटी न रह सकेगी, और मात्र दस प्रतिशत लोगों की इच्छा से इसका संचलन नहीं होगा। उसकी बागडोर बहुसंख्यों के हाथों में होगी। हालांकि लोकविद्याधर समाज जिसका निर्माण करेंगे उस अर्थव्यवस्था के स्वरूप का चित्र विस्तार से बनाना सभव नहीं है, अगले कुछ बिन्दुओं में मेरी कोशिश उस अर्थव्यवस्था की मोटी रूपरेखा खींचने की है। लोकविद्या विचार से प्रेरित संघर्षों और देश-दुनिया में मिलते-जुलते विचारों पर आधारित आन्दोलनों के अनुभवों से ये बिंदु निकले हैं।
७. **बाजार को समाज का अपना बनाना :** अप्रतिबंधित खुला बाजार तो ऐतिहासिक विसंगति है। समाज में इसका कोई आधार नहीं है। बाजार में होने वाला लेन-देन तो सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं के मुताबिक ही चल सकता है। अधिकतर समाजों ने यह माना है। इससे कई निष्कर्ष निकलते हैं।
 - क. दूरस्थ प्रदेशों के साथ होनेवाला व्यापार स्थानीय बाजार की तुलना में गौण होगा, न कि इसके उलटे।
 - ख. बाजार को प्रभावित करनेवाले ‘बाहरी’ कारकों को धीरे-धीरे आत्मसात कर लिया जाएगा।
 - ग. किसी भी क्षेत्र का बाजार वहाँ के लोगों के नियंत्रण में चलेगा।
८. **स्थानीय संसाधनों पर स्थानीय नियंत्रण :** आधुनिक राज्य का ढाँचा लोकविद्या-राज्य के ठीक विपरीत है। जिस हद तक राज्य की अवधारणा को लोकविद्या विचार में मान्यता है, उसके अधिकार, और उसकी दखल उतने ही हैं, जितने उसे समाजों ने बहाल किये हैं। यह नहीं कि

राज्य अधिकार देगा, जैसा कि आज होता है। आज उपलब्ध अवधारणाओं में स्वराज का विचार लोकविद्या-राज्य से सबसे निकट है।

९. **स्थानीय संसाधनों का समान बँटवारा :** बिजली, संचार के लिए इस्तेमाल किये जानेवाली विद्युत तरंगों का स्पेक्ट्रम आदि जैसी चीजों का स्थानीयकरण मुश्किल काम है। इन संसाधनों के तथा उनकी उपलब्धियों के बंटवारे में आज भारी असमानता है। लोकविद्या अर्थव्यवस्था में इन संसाधनों का बंटवारा समानता के सिद्धान्त पर होगा।
१०. **वित्तीय ताकत का सामना :** संपत्ति का बंटवारा आज जितना विषम है, उतना शायद पहले कभी भी नहीं था। यह बात पूँजी के हर रूप को भी लागू है। वित्तीय पूँजी को भी। लोकविद्या परिप्रेक्ष्य में पूँजी का विकेंद्रीकरण और स्टॉक मार्केटों में होनेवाली अटकलबाजी पर संपूर्ण रोक, दो महत्वपूर्ण मांगें हैं।
११. **आय में भारी विषमता को खत्म करना :** आज ऐसे लोगों की आय में भी भारी विषमता है, जो अपनी संपत्ति पर ब्याज या किराए से नहीं कमाते, बल्कि अपने ज्ञान और श्रम के बल पर जीते हैं। यह स्थिति एक प्रकार के ज्ञान का सामाजिक अस्तित्व नकारे जाने का परिणाम है। यह ज्ञानगत विषमता इस कपोल कल्पित बात पर टिकी हुई है कि औपचारिक शिक्षा बेहतर ज्ञान देती है। सच तो यह है कि राज्य की नीति और औपचारिक शिक्षा की राशनबाजी पर ही चंद लोगों के लिए भारी आमदनी की यह व्यवस्था टिकी हुई है। यह बात तुरंत स्पष्ट हो जाएगी जैसे ही आप इस बात पर गौर करेंगे कि तमाम कर्मचारियाँ वही काम ठेके पर रखे कर्मचारियों से आधे वेतन पर कराती हैं, जो उनके यहाँ के नियमित रूप से काम पर लिए गए कर्मचारी किया करते हैं। सार्वजनिक पटल पर लोकविद्या का दावा ठोकने के दो अर्थ हैं – एक तो यह कि इस प्रचलित प्रथा में निहित धांधलेबाजी को ललकारा जाय; और, दूसरा यह कि लोकविद्या समाज के लोगों की आय में वृद्धि कर इस गैर-बराबरी का खात्मा किया जाय।

१२. अर्थव्यवस्था में महिलाओं को उनके हक्क की जगह वापस दिलाना : अर्थव्यवस्था के औपचारिक परिप्रेक्ष्य ने आर्थिक क्रियाओं में महिलाओं की विशिष्टता को ही मिटा डाला है। परिणाम यह है कि आज हम कई बेमानी चर्चाओं में सुनते हैं कि कामगारों में महिलाओं की हिस्सेदारी क्यों नहीं है, और कैसे इसमें वृद्धि होना जरूरी है! असलियत यह है कि महिलायें तो हमेशा से ही काम करती आई हैं, और यह कि लोकविद्या समाज इस तथ्य से भली भांति परिचित है। लोकविद्या अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भूमिका स्पष्ट और मध्यवर्ती होगी।
१३. बड़े भारी पैमाने पर उत्पादन और उपभोग के कारण पर्यावरण की गुणवत्ता में भारी गिरावट आई है, और साथ ही सामाजिक नैतिकता की भारी तोड़-मरोड़ और विकृतिकरण हुआ है। दुनियाभर में और हमारे यहाँ लोकविद्या विचार और मिलते-जुलते विचारों ने ही इस किस्म की प्रगति और विकास पर प्रश्न उठाये हैं। लोकविद्या अर्थव्यवस्था सीमित खपत की अर्थव्यवस्था है। पर्यावरण का संतुलन और स्वास्थ्य संजोने के परिप्रेक्ष्य में सीमित उत्पादन और सीमित उपभोग के विकल्प के चयन में ही बुद्धिमत्ता है।

●

**जागु जागु जंजाली मनवा, यह हाट है लुटेरा।
 अन्न बिकै, जल बिकै, बीज भी बिकाय
 ढोर बिकै, ज़मीन बिकै, जोख भी बिकाय
 धरम बिकै, करम बिकै, ज्ञान भी बिकाय
 छोड़ भरम जाग ज़रा यह हाट तो लुटेरा।**

-लोकविद्या सत्संग

न्याय, त्याग और भाईचारा

ललित कुमार कौल

अपनेपन का एहसास बिना त्याग की भावना संभव नहीं। क्या हम यह कह सकते हैं कि यदि अपनापन और कृतज्ञता मौजूद हो तो न्याय मिल ही जाता है? इसका जवाब 'हाँ' भी हो, तब भी न्याय का मामला पूर्णतः हल नहीं हुआ, क्योंकि यह तो ये हुआ कि न्याय किसी व्यक्ति के स्वभाव पर आश्रित हो गया! मूल प्रश्न तो यह है कि किस प्रकार से मानव जाति में प्यार, मोहब्बत, आदर, कृतज्ञता और अपनेपन का बीज बोया जाए, ताकि न्याय सार्वजनिक हो? क्या यह संभव है? जो भी हो धर्म के पालन में ही आशा की किरण दिखती है जब बात न्याय, त्याग और भाईचारे की हो!

मेरा जन्म किसी एक परिवार में हुआ, किसी एक गाँव या शहर में, किसी एक देश में। हजारों गाँव और सेंकड़ों देश इस धरती पर मौजूद हैं। जिस गाँव में मेरा जन्म हुआ उसमें कई परिवार बसते हैं, जो उस गाँव के समाज का एक हिस्सा हैं। हर परिवार का अपना अपना व्यवसाय है; या फिर कई परिवारों की जीविका एक ही जैसी हो, यह संभव है। हर गाँव, शहर, देश वासी की बुद्धि या शारीरिक और मानसिक क्षमताएं एक जैसी नहीं हैं। शक्ति भी एक जैसी नहीं है। एक परिवार के सदस्यों के बीच भी इसी प्रकार के अंतर दिखते हैं। यहाँ तक कि दो भाइयों या भाई - बहन के स्वभाव में, रुचियों में, प्रवृत्ति में, सही-गलत आदि की समझ में भी अंतर देखने को मिलता है। इंसानों और अन्य जीवों में ऐसा कौनसा गुण है जो एक दूसरे से पृथक नहीं है? ऐसे में किस आधार पर बंधुत्व की बात की जाय? अपनेपन का एहसास बिना त्याग की भावना संभव नहीं। भौतिकवादी दुनिया में त्याग और भाईचारा जैसे जीवन मूल्यों का प्रभुत्व होना कुछ मुश्किल लगता है।

इंसानी रिश्तों का आधार

रिश्तों के बीच प्यार, मोहब्बत, आदर इन सब की गहराई वक्त के साथ बदलती रहती है। ऐसा होना स्वाभाविक है, ऐसा मेरा मानना है। जो भाव नहीं बदलता वह एक इंसान का दूसरे के प्रति आभार या कृतज्ञता का भाव है- बशर्ते उसके चरित्र या स्वभाव में ऐसा अंश है! रिश्ता कोई भी हो, नहीं टिक पाता

यदि कृतज्ञता का अंश अनुपस्थित हो। बाल-बच्चे अपनी गृहस्थी सँभालते हुए माँ-बाप के साथ किस प्रकार का रिश्ता निभायेंगे, यह माँ-बाप के प्रति उनकी कृतज्ञता कितनी है, इससे तय होने वाला है। क्योंकि दो पीढ़ियों के बीच वैचारिक और नज़रिये के भेद तो स्वाभाविक ही हैं! यदि बच्चों के जेहन में यह जब्त है कि न केवल उनका वजूद, पर उनकी उपलब्धियाँ भी माँ-बाप के निजी बलिदानों के कारण हैं, तो भेद कितने ही तीव्र क्यों न हों, साफ़ सुथरा रिश्ता बना रहता है। माँ-बाप कितने गरीब या अमीर रहे हों इससे रिश्तों में कोई फर्क नहीं पड़ता। भौतिकवादी दुनिया में थोड़ी बहुत आध्यात्मिकता तो नज़र आती ही है!

पारस्परिक स्वार्थ भी रिश्तों को जोड़ता है। ऐसी सार्वजनिक या निजी इकाई में जिसमें हर जाति, वर्ग, मज़हब के लोग काम करते हों, पारस्परिक स्वार्थ के कारण सभी मिलजुल के हर काम को अंजाम देते हैं, क्योंकि सबकी जीविका का प्रश्न होता है! काफ़िर और मोमीन, दलित और उच्च वर्ग, मर्द और औरत, गोरा और काला, ऐसे सब भेद भाव इकाई के भीतर नहीं रहते, भले ही इकाई के बाहर प्रभाव रखते हों। जीविका का स्वार्थ! इस आपसी व्यवहार में प्यार, मोहब्बत, इंसानियत, इज़ज़त जैसे मूल्य किस हद तक मौजूद रहते हैं, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। लेकिन जब कभी समाज में दंगे फसाद होते हैं, तो दंगों का विश्लेषण वर्ग, जाति, और मज़हब के आधार पर ही होता है। पारस्परिक स्वार्थ के अभाव में भौतिकवादी दुनिया में इंसानी रिश्तों का कोई आधार नहीं!

यदि होता तो आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद किसान आत्महत्या नहीं करते, क्योंकि किसान वर्ग एक जुट होकर संकट में गिरे हुए किसान की सहायता करते, या फिर उस क्षेत्र से जुड़े समाज के अन्य लोग मदद करते। मदद करने का तात्पर्य यह है कि ऋण की राशि सब मिलकर अदा करते, पीड़ित किसान से दी गयी राशि के सरल किस्तों में भुगतान की व्यवस्था मिलजुल कर तय करते। लेकिन ऐसा होता नहीं, क्योंकि बंधुत्व का कोई आधार नहीं बन पाया है। कोई यह तर्क न दे कि पूरे समाज में ऋण का कुछ हिस्सा भी वापस देने की क्षमता नहीं थी, या यह कि इंसानियत की बात न करिये क्योंकि बात आध्यात्मिकता की नहीं हो रही!

ऐसा भी देखने को मिलता है कि दो भाई एक ही छत के अंदर अलग

अलग अपना परिवार चलाते हैं, और दोनों के बच्चे लिखाई पढ़ाई में एक समान हैं, लेकिन आर्थिक असमानता के कारण एक भाई के बच्चे पेशेवर विद्यालयों में दाखिला नहीं ले पाते। यदि अपनेपन का एहसास अधिक संपन्न भाई में हो, तो वह दूसरे के साथ मिलके कोई न कोई रास्ता निकालता है ताकि बच्चों की पढ़ाई में किसी प्रकार की रुकावट न आये। ऐसी पहल में कहीं न कहीं त्याग का अंश है, जिसका वजूद अपनेपन के एहसास में है।

क्या हम यह कह सकते हैं कि यदि अपनापन और कृतज्ञता मौजूद हो तो न्याय मिल ही जाता है? इसका जवाब 'हाँ' भी हो, तब भी न्याय का मामला पूर्णतः हल नहीं हुआ, क्योंकि यह तो ये हुआ कि न्याय किसी व्यक्ति के स्वभाव पर आश्रित हो गया! मूल प्रश्न तो यह है कि किस प्रकार से मानव जाति में प्यार, मोहब्बत, आदर, कृतज्ञता और अपनेपन का बीज बोया जाए, ताकि न्याय सार्वजनिक हो? क्या यह संभव है?

हक और फ़र्ज़ (धर्म)

प्यार, मोहब्बत, आदर, कृतज्ञता और अपनापन इन सब का एहसास होना या न होना, अधिक या कम मात्रा में होना - ये इंसान की मूल प्रवृत्ति के विषय हैं। बाहरी दुनिया का इन सब पर कोई अधिकार नहीं है। एक इंसान समाज में किस प्रकार का व्यवहार और कार्य करेगा यह पूर्णतः उसकी मूल प्रवृत्ति से निर्धारित होगा - यदि समाज में किसी प्रकार का कोई अंकुश न हो! आधुनिक समाजों में केवल इंसानों के हक और उन्हें सुरक्षित करने की चर्चा होती है। समाज के प्रति इंसानों के धर्म की कोई चर्चा नहीं होती!

सरकार की नीतियों का विरोध करने का हक सबको है, और उसके साथ-साथ सार्वजानिक सम्पत्ति को तहस नहस करने का हक भी लोगों ने धारण कर लिया है। सार्वजनिक सम्पत्तियों की देख भाल करने का धर्म किसी का नहीं है। उनका भी नहीं जिन्हें इस काम के लिए मासिक वेतन मिलता है!

अपना हक पाने का संकल्प लेकर, निजी जिम्मेदारियों से बेखबर, समाज, देश या फिर दुनिया में यात्रा करने वालों के लिए कोई मर्यादा रेखा नहीं होती। निजी स्वार्थ को फलित करने का हक सभ्य समाज के हर मूल्य को कुचल देता है। कानूनी व्यवस्था इसे संज्ञान में ले या न ले, इसका बुरा असर तो समाज पर पड़ता ही है। क्योंकि ऐसा बर्ताव समाज के सामने सम्भावनाओं के

उदाहरण के रूप में पेश होता है – कि हाँ भाई, देखो तो सही, ऐसा भी किया जा सकता है, यह भी संभव है!

अगर बात यह हो कि हर एक को अपनी ज़िन्दगी अपने तरीके से जीने का हक है, निजी आकांक्षाओं की पूर्ति करने का हक है, और इस छूट की कोई इंतिहा नहीं है, तो कोई भी ऐसा रास्ता अपनाया जा सकता जिससे निजी आकांक्षाओं की पूर्ति हो। ऐसे वातावरण में मूल्यों का प्रभावहीन होना स्वाभाविक है, क्योंकि सब के सब हक की पूर्ति के अधीन हैं।

परिवार समाज की मौलिक इकाई है, परिवार बिखर जायें तो समाज के अस्तित्व क्या औचित्य ?

यह धारणा कि ‘हर इंसान खुद का मालिक है, जो चाहे कर सकता है यदि वह संकल्प कर ले’, सही नहीं है क्योंकि इंसानी उपलब्धियों में अवश्य ही परिवार, समाज का योगदान निहित है। जो धर्म निभाने स्वरूप है! वह प्रश्न जो हर आकांक्षी को खुद से पूछना चाहिए, यह है: जिन्होंने निजी धर्म निभाते हुए मेरी आकांक्षाओं की पूर्ति में मेरी सहायता की, क्या मेरा उनके प्रति कोई धर्म नहीं है? किसी का धर्म किसी की हक-पूर्ति के काम आया- बिलकुल वैसे ही जैसे आज अपना धर्म निभाने वालों की हक-पूर्ति के लिए किन्हीं औरों का धर्म काम आया होगा। यदि हक पाने की धुन में धर्म की भूमिका को नज़रंदाज ना किया जाए तो समाज में न्याय अवश्य होगा।

निजी उपलब्धियों का श्रेय यदि किसी अनुपात में समाज और उसकी संस्थाओं को दिया जाये, तो इससे बढ़कर मिसाल कृतज्ञता की नहीं हो सकती। और यहीं गुण इंसान को समाज के साथ जोड़ता है!

इंसानों की निजी मूल प्रवृत्ति कैसी भी हो, धर्म का बीज उनके मन और चेतना में बोना तो असंभव कार्य नहीं लगता- बशर्ते परिवार के बुजुर्ग (दादा, दादी, माँ, बाप आदि) अंदरूनी मसले हल करने में धर्म का पालन करें। बच्चों का पहला और बहुत महत्वपूर्ण विद्यालय उनका घर है; अच्छे बुरे संस्कार, सही गलत की समझ आदि सब घर के बुजुर्गों से मिलते हैं। आज की दुनिया में बुजुर्गों के आचरण पर भी बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह है!

जो भी हो धर्म के पालन में ही आशा की किरण दिखती है जब बात न्याय, त्याग और भाईचारे की हो!



स्वराज, स्वायत्तता, संघीयता, संविधान, समाज और प्रतिनिधित्व

कृष्ण गांधी

शासन आज जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में है, लेकिन इसके बावजूद स्वराज चर्चा का विषय बना हुआ है। भारत देश एक बृहत् समाज है जो विभिन्न परम्पराओं को माननेवाले और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करनेवाले अनेक समाजों से गठित है। भारत के संविधान ने समाजों को अपनी आकांक्षायें फलीभूत करने का अवसर नहीं दिया है। हाल के वर्षों में बहुमतवाद भारतीय लोकतंत्र के लिए एक खतरे के रूप में उभरा है। यदि इस खतरे को टालना है तो पारम्परिक समाजों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व भारतीय राजनीति में कैसे स्थापित किया जाय इसपर एक

स्वराज

स्वराज भिन्न भिन्न प्रकार से परिभाषित किया जाता रहा है। आजादी के आंदोलन के समय स्वराज का मतलब था भारत की अंग्रेजी शासन से मुक्ति। अंग्रेज तो चले गए। शासन आज जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में है, लेकिन इसके बावजूद स्वराज चर्चा का विषय बना हुआ है। ‘भारत राष्ट्र’ विशाल है। राजसत्ता केंद्रीकृत है, और उस पर आम जनता का कोई नियंत्रण नहीं है। इस वजह से आज साधारण व्यक्ति और समाज ‘भारत राष्ट्र’ से अलग-थलग पड़ चुके हैं। जनमानस में राजसत्ता के प्रति डर ज्यादा है और अपनापन कम। व्यक्ति और समाज पर राज करनेवाली एक बाह्य शक्ति के रूप में ही हमारे सामने आज राजसत्ता खड़ी है। पर व्यक्ति हो या समाज, वह कभी बाह्य सत्ता का गुलाम बनना नहीं चाहता। भले ही महत्वाकांक्षी राजनीतिक पार्टियां और उनके नेतृत्व सुशासन, स्वच्छ शासन आदि का ढिढोरा पीट रहे हैं, जनता का कटु अनुभव उसके बिकुल विपरीत है। इन परिस्थितियों में बाह्य राजसत्ता से स्वतंत्र, स्वशासित, छोटे समाजों (जैसे गाँवों) पर आधारित स्वराज की अवधारणा के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है।

भारत देश स्वयं एक बृहत् समाज है जो विभिन्न परम्पराओं को माननेवाले और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करनेवाले अनेक समाजों से गठित है।

अनेक भाषा, धर्म, संस्कृतियाँ मानने वाली जाति और जनजातियाँ हमारे देश में रहती हैं। दुनिया भर में भारत देश की चर्चा इन्हीं कारणों से होती रही है। पर पिछले कुछ वर्षों से कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ देश की राजनीति पर हावी हैं जो इस विविधता को समाप्त कर एकरूपता लाना चाहती हैं। सबसे बड़ी समस्या यह है कि जबरन थोपी जा रही यह एकरूपता राष्ट्र प्रेम और राष्ट्रीय सुरक्षा से जोड़ी जा रही हैं। विविधता को नष्ट करने वाली ताकतों की मिली-भगत से लोकतान्त्रिक अधिकार समाप्त हो रहे हैं और तानाशाही लागू हो रही है। नोटबंदी, जीएसटी के अंतर्गत राज्यों के कर वसूलने के अधिकारों और राजस्व में कटौती, सीएए, कश्मीर पर से धारा ३७० हटाना, करोना महामारी का कुप्रबंधन, वित्त आयोगों द्वारा राज्यों को दी जानेवाली राशियों में कटौती और उनके खर्च पर नियंत्रण, एक राष्ट्र - एक भाषा - एक पहचान पत्र - एक राशन कार्ड - एक चुनाव, और इसका प्रचार, ये सारी बातें बढ़ती तानाशाही की ओर झिंगित करती हैं।

स्वायत्तता

१८९३ में शिकागो, अमेरिका में आयोजित विश्व धर्म संसद में दिए गए अपने भाषण में स्वामी विवेकानंद ने कहा था: “यहां मौजूद लोगों में से यदि कोई ये सोचें कि विश्व में एकता की स्थापना किसी एक धर्म के विजय और अन्य धर्म के परायज से संभव होगा, उनसे मैं यह कहता हूँ, ‘भाई, तुम्हारा सपना असंभव है।’ क्या मैं चाहता हूँ कि ईसाई हिन्दू बन जाएँ? भगवान क्षमा करे। क्या मैं चाहता हूँ कि हिन्दू या बौद्ध ईसाई बन जाएँ? भगवान क्षमा करे। यदि कोई यह सपना देखता है कि उसका ही धर्म पनपेगा और अन्य धर्म नष्ट हो जायेंगे, तो उस पर मुझे तहे-दिल से दया आती है, और मैं उसको बताना चाहता हूँ कि प्रत्येक धर्म की पताका पर शीघ्र ही ‘लड़ाई नहीं, मदद’, ‘नाश नहीं, समायोजन’, ‘विवाद नहीं, शांति और सामंजस्य’, ये नारे विरोध के बावजूद लिखे जायेंगे।”

स्वामी जी के उपरोक्त वक्तव्य में यदि हम धर्मों के स्थान पर समाजों को रखेंगे, तो उनकी बात आज और ज्यादा प्रासंगिक होती है। स्वामी जी भारत की उस परंपरा की ओर ध्यान आकर्षित कर रहे थे जिसमें समाज अपने भिन्न-भिन्न रीति रिवाज़, ज्ञान परम्पराएं, देवी-देवताओं की आराधना के तरीके आदि पर, अन्य समाजों की गतिविधियों में दखल दिये बगैर, अमल करने के लिए स्वतंत्र थे। ‘स्वायत्त समाजों की स्वायत्तता’ का एक दर्शन हम उनके शब्दों में

पाते हैं जिसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमें अपनाने और अतित्व में लाने की ज़रूरत है। तभी हम तानाशाही की दुर्गति से बच पाएंगे। निकट भविष्य में हमारा ऐंडेला भारत में मौजूद पृथक-पृथक समाजों के बीच स्वायत्त समाजों की स्वायत्तता के दर्शन को जमीनी हकीकत में बदलने का होना चाहिए। स्वायत्त समाजों की स्वायत्तता के वर्तमान लक्ष्य का अगला चरण है स्वराज।

संघीयता (Federalism) और संविधान

आजादी के बाद 'भारत राष्ट्र' के संस्थापकों के सामने विभिन्न क्षेत्रीय भाषाई एवं सांस्कृतिक विविधता वाले समाजों से संपन्न अपने देश को एक राष्ट्र का रूप देने की चुनौती थी। उन्होंने राज्यों के एकाकी यूनियन की स्थापना की जिसमें संघीयता (federalism) का स्थान सीमित ही था। औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति हेतु राष्ट्रीय आंदोलनों का वह ज़माना था और 'राष्ट्र निर्माण' का आदर्श राजनीतिक सोच पर हावी था। पचहत्तर वर्षों के बाद 'राष्ट्र' की अवधारणा का घोर दुरुपयोग आज हम अपने देश में ही नहीं पूरे विश्व में देख रहे हैं। 'राष्ट्र' की आड़ में चंद इज़ारेदार पूँजीपतियों द्वारा देश की संपत्ति और संपदा लूटी जा रही है जिसमें सरकार उनके एजेंट की भूमिका मात्र निभा रही है। मानवीय जीवन मूल्यों का समावेश 'राष्ट्र' में कहीं भी नज़र नहीं आ रहा है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर सारे मौलिक अधिकारों को ही तिलांजिल दी जा रही है। सवाल उठता है, किसका राष्ट्र? किसकी सुरक्षा? सबसे अमीर एक प्रतिशत आबादी की सुरक्षा की ही फ़िक्र सरकार को है। नीति निर्धारण में जिस अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखने की हिदायत गंधीजी ने दी थी उसके विपरीत देश के शीर्ष दो औद्योगिक घरानों के हित का ही ध्यान दिया जा रहा है। राष्ट्र (राजसत्ता) और समाज के बीच का फासला इतना ज्यादा हो चुका है कि उसे पाठना अब असंभव है। राष्ट्र जनाधिकारों को कुचलने का एक हथियार बनाया गया है। अतः जन आकांक्षाओं के पूरा करने में राष्ट्र (की अवधारणा) की कोई प्रासंगिकता है क्या, इस विषय पर हमें गंभीरता से विचार करने की ज़रूरत है।

सबसे पहले भारत को राज्यों की यूनियन (union of states) के स्थान पर राज्यों का संघ (federation of states) घोषित किया जाना चाहिए। आजादी के समय के विपरीत आज कोई भी राज्य भारतीय गणतंत्र से अलग होना नहीं चाहता है। नागालैंड की जनता तक भारत से अलग होने की मांग करना छोड़ चुकी है। अतः राज्यों को फेडरेशन में परिवर्तित करने से भारत के

विघटन का खतरा पैदा होने की संभावना न के बराबर है। उलटे, केंद्र सरकार के हाथों में सत्ता केन्द्रीकरण तेज होने से ही विभिन्न राज्यों की जनता की आकांक्षायें पूरी नहीं हो सकेंगी व विघटनकारी प्रवृत्तियां बढ़ेंगी।

हाल में मद्रास हाई कोर्ट की इस टिप्पणी को लेकर काफी गहमागहमी हुई जिसमें कोर्ट ने कहा कि तमिल नाडु की लोकसभा में सदस्यता ४१ से ३९ तक वर्ष १९६७ में घटाए जाने की क्षतिपूर्ति उसे दी जानी चाहिए और राज्य सभा में उसका प्रतिनिधित्व और वित्त आयोग द्वारा देय आवंटन बढ़ाकर यह क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए। इस मुद्दे पर 'द हिन्दू' अखबार में छपे सम्पादकीय का अंश नीचे उद्धरित है:

“१९६७ के आम चुनावों के बाद तमिलनाडु की लोक सभा में सदस्यता संख्या ४१ से ३९ में घटाई गयी। मद्रास हाई कोर्ट ने कहा कि तबसे अब तक राज्य को २८ सांसदों के प्रतिनिधित्व की हानि हुई है, उसे अपनी जनसंख्या बढ़ाने से रोकने की सजा दी जा रही है। क्या तमिलनाडु राज्य की राजनीतिक ताकत में हुई इस कमी की क्षतिपूर्ति दी जानी चाहिए, इस प्रश्न पर कोर्ट ने जिजासा जताई। आने वाले वर्षों में यह प्रश्न एक राष्ट्रीय समस्या का रूप ले सकता है।

लोक सभा के निर्वाचन क्षेत्रों की हृदबन्दी (delimitation) प्रत्येक दशकीय जनगणना के बाद की जानी चाहिए थी। लेकिन इस प्रक्रिया पर ठीक उसी कारण से रोक लगा दी गयी, जिस कारण (जनसंख्या नियंत्रण प्रभावी ढंग से लागू करने वाले राज्यों को दण्डित करना) मद्रास हाई कोर्ट ने अपनी उपरोक्त टिप्पणी की थी। निर्वाचन क्षेत्रों की हृदबन्दी अब राज्य की सीमाओं के अंदर ही चल रही है। लेकिन २०३१ के लोक सभा चुनावों में हृदबन्दी पर लगी रोक हट जाएगी। तब तमिल नाडु, केरल और दक्षिण के अन्य प्रांतों की लोक सभा में सदस्यता संख्या काफी घट जाएँगी। अर्थात्, जनसंख्या नियंत्रण सफलता पूर्वक करने के लिए ये राज्य दण्डित होंगे। फलस्वरूप उत्तर-पूर्व और पूर्व के राज्यों की राजनीतिक ताकत में होनेवाली इजाफे से भारत के संघीय ढाँचे में भारी फेरबदल होगा।”

लोक सभा निर्वाचन क्षेत्रों की हृदबन्दी २०२६ से शुरू होगी। उसके पहले सफल जनसंख्या नियंत्रण करनेवाले राज्यों के घटते लोकसभा प्रतिनिधित्व की क्षतिपूर्ति कैसे की जाए इस पर सभी राज्यों के बीच आम सहमति होनी होगी।

उन राज्यों को राज्य सभा में ज्यादा प्रतिनिधित्व देना, एक तरीका हो सकता है। असल में सभी राज्यों को राज्य सभा में बराबर का प्रतिनिधित्व देकर संघीयता को सुदृढ़ किया जा सकता है। नतीजा यह होगा कि पूर्व के और दक्षिण के छोटे राज्यों की उन चिंताओं का भी निराकरण होगा जिसमें भारी जन संख्या वाले उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे राज्यों की राजनीतिक ताकत बेहिसाब बढ़ने की उन्हें आशंका है।

जीएसटी के लागू होने के बाद केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच करों से प्राप्त राजस्व के बंटवारे में विषमता बढ़ी है। न केवल राज्यों को प्राप्त हिस्से की कटौती हुई है, बल्कि राज्यों के बीच राजस्व के बंटवारे में भी असमानता बढ़ी है। तमिल नाडु का जीएसटी में योगदान उसके आबादी में हिस्सा ६% से अधिक होते हुए भी पिछले वित्त आयोगों ने उसे ६% से भी कम राजस्व का हिस्सा ही आवंटित किया है। तमिल नाडु में इस बात को लेकर रोष है कि गरीबी उन्मूलन, साक्षरता, जनसंख्या नियंत्रण आदि कार्यों में उसकी सफलताके बावजूद उसके साथ सौतेला व्यवहार किया जा रहा है। कमोवेश यह रोष दक्षिण के अन्य प्रान्त, ओडिशा और पंजाब में भी व्याप्त है।

कुल मिलाकर राजनीतिक एवं वित्तीय संघीयता के मुद्दे को लेकर बहुत सारे राज्यों में असंतोष व्याप्त है, विशेषकर उन राज्यों में जहाँ क्षेत्रीय पार्टियों का राज है। भारत का सर्वांगीण विकास और समृद्धि तभी संभव है जब राजनीतिक और वित्तीय केन्द्रीकरण की प्रक्रिया को त्याग कर सच्ची संघीयता की दिशा में हम आगे बढ़ेंगे। राज्यों के यूनियन से राज्यों के संघ में भारतीय गणतंत्र का परिवर्तन अति आवश्यक है।

पंचायत और स्वशासन की अन्य स्थानीय इकाइयाँ

७३-वां संविधान संशोधन के माध्यम से पंचायती राज अधिनियम वर्ष १९९३ में पारित हुआ और नयी पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना की गयी। इन पंचायती राज संस्थाओं का गठन, कार्यक्षेत्र और कार्यप्रणाली परम्परागत पंचायतों की तुलना में बिलकुल भिन्न हैं। इस अधिनियम का उद्देश्य स्वशासन की स्थानीय इकाइयों को अधिक स्वायत्त और स्वावलंबी बनाना नहीं था। असल उद्देश्य केंद्र सरकार की योजनाओं के क्रियान्वयन में राज्य सरकारों का हस्तक्षेप समाप्त करना था। नई पंचायती राज संस्थाओं की कोई स्वायत्तता नहीं है। पुरानी पंचायती व्यवस्था में सर्वसम्मति से निर्णय लेने की पद्धति थी और यह

कार्य उस बैठक के लिए चुने गए पांच सदस्यों (पंचों) के मार्ग दर्शन में होता था। बहुमत से निर्णय लेने की कोई परिपाठी नहीं थी। पंचायत की अगली बैठक में अन्य पांच सदस्य पंच चुने जाते थे।

नयी पंचायत राज प्रणाली त्रिस्तरीय है। सबसे निचली इकाई ग्राम पंचायत है। इसके ऊपर ब्लॉक पंचायत समिति और सबसे ऊपर जिला पंचायत समिति कार्य करती हैं। प्रत्येक इकाई में राज्य सरकार द्वारा नियुक्त सचिव तदर्थ (ex-officio) सदस्य के रूप में कार्य करता है, जिसकी पंचायतों के कामों में निर्णायक भूमिका होती है। ग्राम सभा के सदस्य ग्राम पंचायत के अंतर्गत आनेवाले गाँवों के निवासी होते हैं जिनके नाम वोटर लिस्ट में पंजीकृत हैं। ग्राम सभा की स्वीकृति या अनुमोदन के बगैर ग्राम पंचायत कोई कार्य कर नहीं सकती है।

पर पंचायती राज का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण और कमज़ोर पहलु ग्राम सभाओं का ही कार्य है। ग्राम सभाओं के आयोजन न के बराबर होते हैं। ये केवल कागज़ में होते हैं। ग्राम प्रधान और ग्राम पंचायत के चुने हुए प्रतिनिधि बंद कर्मरों में बैठकर निर्णय लेते हैं और उन निर्णयों की ग्राम सभा द्वारा स्वीकृति फ़र्ज़ी तरीके से कागज़ों में दर्ज कर लेते हैं। और इन निर्णयों की जानकारी तक ग्राम सभा सदस्यों को नहीं होती है। ग्राम सभाओं में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के बगैर स्वायत्तता पूर्ण गाँवों के जीवंत लोकतंत्र से लैस भारत की कल्पना करना असंभव है।

नगर पंचायत, नगरपालिका और महानगरपालिकाओं की भी यही शोचनीय स्थिति है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का सर्वथा अभाव है।

आर्थिक स्वावलम्बन भी ग्राम सभाओं के सामने एक बड़ी चुनौती है जिस कारण उनकी स्वायत्तता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। ग्राम पंचायतों और अन्य स्वशासन की स्थानीय इकाइयों को धनराशि आवंटित करने का काम राज्य स्तरीय वित्त आयोग करते हैं। ये आवंटन अक्सर अपर्याप्त होते हैं और विशिष्ट शर्तों पर ही दिए जाते हैं। केंद्र सरकार की परियोजनाओं के संबंध में सारे निर्णय दिल्ली में केंद्र सरकार के विभागों द्वारा लिए जाते हैं। इस में न तो स्थानीय पंचायती राज संस्थाओं की और न ही राज्य सरकार की कोई भागीदारी होती है।

पंचायती राज संस्थाओं के स्वावलंबी और स्वायत्त बनाने हेतु संविधान और केंद्र और राज्य सरकारों के नियमावलियों में भारी बदलाव लाने होंगे।

स्पष्ट है कि संघीयता और पंचायती राज से जुड़े प्रश्नों का समाधान संविधान संशोधन के माध्यम से ही संभव है। भारतीय गणतंत्र एकात्म (unitary) के स्थान पर संघीय (federal) बनाये जाने का मुद्दा प्रमुख है। यूनियन गवर्नर्मेंट के अधिकारों में भारी कटौती करनी होंगी। राज्य सरकारों के कार्यों में यूनियन गवर्नर्मेंट का हस्तक्षेप न्यूनतम रखना होगा। प्रतिरक्षा, विदेशनीति, मुद्रा, संचार, अंतरिक्ष अनुसन्धान आदि मामलों को छोड़ कर बाकी सारे विषयों पर नीति-निर्धारण और क्रियान्वयन का अधिकार राज्यों को प्राप्त होना चाहिए। इसके साथ पंचायतों और ग्रामसभाओं की स्वायत्तता और स्वावलंबन बढ़ाने के लिए आवश्यक प्रावधान भी संविधान में शामिल करने होंगे।

समाज और प्रतिनिधित्व

क्या भारत के संविधान ने भारतीय जनता को अपनी आकांक्षायें फलीभूत करने का अवसर दिया है? नेहरू के उदारवादी जमाने में भी भारत के पारम्परिक समाज (कृषि और अन्य व्यवसायों से जुड़ी शूद्र जातियां, आदिवासी जनजातियां, धार्मिक अल्पसंख्यक समाज, भाषाई अल्पसंख्यक समाज आदि) घुटन महसूस कर रहे थे। उन्हें सामाजिक आर्थिक राजनीतिक तरक्की के अवसर प्राप्त नहीं हो रहे थे। इसके पीछे एक प्रमुख कारण यह रहा है कि भारत का संविधान समाजों की अपेक्षा व्यक्तियों के अधिकारों के संरक्षण के लिए तैयार किया गया था। आर्थिक नीतियों का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति केंद्रित पूँजी व संपत्ति का पोषण और संरक्षण था, न कि समाज केंद्रित सामूहिक संपत्ति का पोषण व संरक्षण। पारम्परिक उद्योग धंधे जैसे बुनाई, लोहारी, चमड़े का काम आदि के नाश से पारम्परिक समाज अवनति के शिकार हुए। उनके स्वावलंबन और स्वायत्तता में हास हुआ। फलस्वरूप पारम्परिक समाजों का अस्तित्व ही लगभग समाप्त है। मान कृषि से जुड़े समाज ही बचे हुए हैं। पर महत्वाकांक्षी यारी पूँजीवाद के बढ़ते वर्चस्व के सामने उन्हें भी अपने अस्तित्व बचाने की लड़ाई करनी पड़ रही है। हाल में दिल्ली सीमाओं पर घटित किसान आंदोलन इसकी अभिव्यक्ति थी। एक साल से भी अधिक चले उस आंदोलन ने कॉर्पोरेट हितैषी कृषि कानूनों को वापस लेने के लिए केंद्र सरकार को ज़रूर मजबूर किया, पर किसान समाज के दूरगामी हितों की रक्षा आज भी एक अनसुलझा प्रश्न बना हुआ है।

अतः संविधान प्रदत्त वर्तमान संसदीय प्रणाली के अंतर्गत भारत के परंपरागत समाजों की राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक आकांक्षाओं की पूर्ति असंभव है। जनमानस में यह धारणा जड़ ले चुकी है कि भारतीय संसदीय प्रणाली चंद यारी पूँजीपतियों ने हाईजैक कर ली है। संविधान और जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (Peoples Representation Act) में आवश्यक संशोधन कर व्यक्ति के साथ समाजों का प्रभुत्व देश की राजनीति पर स्थापित करने की दिशा में हमें आगे बढ़ना होगा।

अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार व्यक्तियों के साथ समाजों को भी प्राप्त होना चाहिए। समाजों का प्रतिनिधित्व निम्नानुसार किया जा सकता है। प्रत्येक राज्य की विधायिका के दो भाग होंगे – एक निचली विधान सभा और दूसरा ऊपरी विधान परिषद। विधान सभा में प्रतिनिधित्व एक-व्यक्ति-एक-वोट की वर्तमान व्यवस्था के अनुसार होगा। पर विधान परिषद में समाजों के प्रतिनिधियों का चुनाव होगा।

जनप्रतिनिधियों के चुनने की वर्तमान FPTP प्रणाली

राष्ट्र जैसे विशाल जनसंख्या वाली संरचना में, जहाँ करोड़ों वोटर होते हैं, प्रत्यक्ष लोकतंत्र असंभव है। इसलिए अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का सहारा लेना पड़ता है। अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व हेतु चुनाव प्रक्रिया का सबसे उत्तम तरीका क्या हो, इस पर आम सहमति नहीं है। आजादी के बाद हमारे देश में FPTP- First Past the Post (सबसे अधिक वोट पाने वाले की जीत) की प्रणाली अपनायी गयी। इसमें वही उम्मीदवार जीता है जिसे सबसे अधिक वोट प्राप्त होता है। FPTP का हमारा अनुभव बहुत निराशाजनक रहा है। अधिकतर मामलों में चुनाव कई उम्मीदवारों के बीच होता है। नतीजा यह है कि जीतनेवाले उम्मीदवार को आधे से बहुत कम वोट प्राप्त होते हैं। अक्सर कुल मतदान का एक-तिहाई या एक-चौथाई वोट पानेवाला प्रत्याशी विजयी होता है, अर्थात् विजयी प्रत्याशी निर्वाचन क्षेत्र की जनता का प्रतिनिधित्व करता है, यह कहना कठिन है। स्पष्ट है कि जब चुनाव दो प्रत्याशियों के बीच होगा तभी जीतने वाला प्रत्याशी बहुमत का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकता है। तब भी कुल वोटरों की संख्या में विजयी प्रत्याशी को प्राप्त वोट का प्रतिशत भी आधे से कम ही होगा। अतः

FPTP प्रणाली के अंतर्गत चुने जानेवाली सरकारों का बहुमत का दावा झूठा होता है।

हाल के वर्षों में बहुमतवाद (majoritarianism) भारतीय लोकतंत्र के लिए एक खतरे के रूप में उभरा है। तानाशाही प्रवृत्तियां राजनीति पर हावी हो रही हैं। FPTP का इसमें काफी योगदान है। बहुमतवाद के चलते दलित, आदिवासी, मुस्लिम, बौद्ध, सिख, ईसाई जैसे अल्पसंख्यक समाजों की या तो सुनवाई नहीं हो रही है या दमन हो रहा है। अतः FPTP प्रणाली त्यागने पर विचार करने की ज़रूरत है।

यदि बहुमतवाद के खतरे को टालना है तो व्यक्ति आधारित FPTP और समाज आधारित आनुपातिक प्रतिनिधित्व (proportional representation) की एक मिली-जुली चुनाव प्रणाली अपनाने पर हमें विचार करना चाहिए। वैकल्पिक व्यवस्था में राज्य स्तरीय विधायिका के दो भाग होंगे - विधान सभा और विधान परिषद। विधान सभा में FPTP प्रणाली से चुने जानेवाले प्रतिनिधि जायेंगे और विधान परिषद में समाजों की जनसंख्या के अनुपात में चुने जानेवाले प्रतिनिधि। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर लोक सभा के सदस्य FPTP प्रणाली से चुने जायेंगे और राज्य सभा के सदस्य राज्य विधान परिषदों के सदस्यों द्वारा चुने जायेंगे। राज्य हो या केंद्र, कोई भी नियम तभी पारित माना जायेगा जब वह दोनों सदनों में पृथक पृथक पारित होंगे। विधान सभाओं में लोकसभा में निर्णय बहुमत से लिए जायेंगे लेकिन विधान परिषदों में और राज्य सभा में निर्णय सर्वसम्मति से लिए जायेंगे।

पारम्परिक समाजों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व भारतीय राजनीती में कैसे स्थापित किया जाय इसपर एक व्यापक बहस शुरू हो, इस उद्देश्य से हमने उपरोक्त विचार आपके सामने रखे हैं। चर्चा आगे बढ़ाने का कार्य आसान हो इस दृष्टि से ही मैं ने कुछ सुझाव आपके सामने रखे हैं, वे अंतिम नहीं हैं।



पेजंट और फार्मर*

जी. शिवरामकृष्णन्

पेजंट समाज स्वयंपूर्ण जीवन-निवाही प्रणालियों में बसर करते हैं, जब कि, फार्मर की गतिविधियाँ बाजार से प्रभावित और नियंत्रित होती हैं। हमारे देश के पेजंट समाज यूरोप या पश्चिम के पेजंट समाजों से काफी अलग थे। अंग्रेजों के आगमन ने देश की पेजंट व्यवस्थाओं को झकझोर कर रख दिया। स्वतंत्रता के बाद खेती के आधुनिकीकरण और व्यवसायीकरण में सरकार की भारी पहल ने पेजंट को फार्मर बनाने में मदद की। पिछली सदी के नवे दशक तक यह साफ़ हो गया था कि छठे दशक की मुख्यतया पेजंट-अर्थव्यवस्था व्यवसायी पूंजीवादी खेती व्यवस्था में परिवर्तित हो चुकी है। आठवें दशक से खड़े हुए फार्मर आन्दोलनों ने उपज के दाम, बाजार, बिजली और खादों के लिए सख्ती आदि की माँगें उठाई। फार्मर आन्दोलनों से जागृत फार्मर क्या सामाजिक क्रान्ति का जनक हो सकता है? ऐसी कोई बात नज़र नहीं आती जिसके बल पर यह कहा जा सके कि फार्मर वास्तव में समाज बदलना चाहते हैं। लगता है कि संयुक्त किसान मोर्चा के नेतृत्व में फार्मर की कोई राजनीतिक इच्छा नहीं है। संभव है कि आन्दोलन पर 'अर्थवाद' हावी हो।

पेजंट और फार्मर

समाजशास्त्री और मानवविज्ञानी (anthropologists) आधुनिक समाज के वे विशेषज्ञ विद्वान हैं जिन्होंने पेजंट (peasant) और पेजंट समाजों (peasant societies) का विस्तार से अध्ययन किया है। हालांकि, समाजशास्त्री पेजंट और फार्मर के बीच फर्क करते हैं, हमारे यहाँ आम समझ में ऐसा कोई स्पष्ट अंतर माना नहीं गया है। शायद यही कारण है कि भारतीय भाषाओं में पेजंट और फार्मर के लिए ऐसे अलग-अलग शब्द प्रचलित नहीं हैं जो इन दो का अंतर जताते हैं।

* यह लेख अंग्रेजी से अनुवादित है। लेख में दो तरह की खेती से सम्बंधित व्यक्तियों, समाजों (peasant and farmer) के विषय में बात रखी गयी है। लेकिन, जैसा कि लेखक ने आरम्भ में ही स्पष्ट किया है, हमारी भाषाओं में इन दो में फर्क जताते हों ऐसे दो शब्द प्रचलित नहीं हैं। इसलिये, चूँकि peasant (पेजंट) और farmer (फार्मर) समाज जो खेती करते हैं वह किन अर्थों में भिन्न हैं इस बारे में लेख में पर्याप्त विवरण है, हमने मूल अंग्रेजी लेख के ही इन दो शब्दों को अनुवादित लेख में बरकरार रखा है। यहाँ यह भी कहना होगा कि हमारे यहाँ, विशेषतया पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली, दक्षिण के राज्य आदि इलाकों में, या मैदिया में अब फार्मर शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में होता है, वह लेख में इस शब्द से अभिप्रैत अर्थ से कुछ भिन्न है।

पेजंट समाजों के बारे में समाजशास्त्रियों में मान्यता यह रही है कि वे उन स्वयंपूर्ण जीवन-निर्वाही (self-sufficient subsistence) प्रणालियों में बसर करते हैं जिनमें लेन-देन के लिए बहुत ज्यादा उत्पादन शेष नहीं बचता। इन समाजों में ऐसी औद्योगिक गतिविधियों का अभाव होता है, जो खेती से सीधे तौर पर जुड़ी हुई नहीं होतीं। समाजशास्त्री किसी समाज के अंतर्गत सामाजिक मूल्यों और संस्थाओं के प्रभावी होने की स्थिति से भी पेजंट समाजों को जोड़ते हैं। इन समाजों की अर्थ-व्यवस्थाओं को ‘नैतिक अर्थव्यवस्था’ कहा गया है। ‘नैतिक अर्थव्यवस्था’ वह है जिसमें जहाँ एक तरफ समृद्ध काल में पेजंट शासक को कुछ अधिक लगान तथा कर देने से पीछे नहीं हटता, वहाँ संकट काल में शासक से उदार बर्ताव की उम्मीद भी रखता है। ऑस्कर ल्यूडिस जैसे कुछ मानवविज्ञानी पेजंट समाजों की संस्कृति को ‘गरीबी की संस्कृति’ कहते हैं। उनका मानना है कि यह इन समाजों का अन्तर्निहित गुण है। हमारे देश के संदर्भ में ‘जाति’ को भी पेजंट समाजों का एक हिस्सा माना जा सकता है। इन समाजों में जीवन सरल होता है, तथा व्यक्ति का सामाजिक स्थान और भूमिका परम्परा से तय होती है। साथ ही जमाखोरी तथा शोषण के पैमाने बहुत छोटे होते हैं। औद्योगिक अर्थव्यवस्था के विस्तार के साथ पेजंट समाज विसर्जित हो कर पूँजीवादी खेती करने लगेंगे, इस मत पर सभी समाजशास्त्री एकजुट हैं।

दूसरी तरफ, पेजंट से एकदम अलग किस्म की व्यावसायिक पूँजीवादी फार्मर की गतिविधियाँ बाजार से प्रभावित और नियंत्रित होती हैं। चूँकि उत्पादन बाजार के लिए किया जाता है, कृषि-उपज की लागत और बाजार में मूल्य निर्णायक और महत्वपूर्ण हो जाते हैं। पेजंट समाज पेजंट के व्यावसायिक पूँजीवादी फार्मर में परिवर्तित होने को टाल नहीं सकते। हाँ, अगर उनका अस्तित्व शेष दुनिया से सम्पूर्णतया अलग-थलग हो, तब शायद वे ऐसा कर पायें। हालांकि इक्कीसवीं सदी तथा वैश्वीकरण की दुनिया में पेजंट समाजों की बात करना मुश्किल है, इन समाजों की संस्कृति के अंश, उनके मूल्य, संस्थाएं और आस्थाएं आज भी मौजूद दिखाई देते हैं। लेकिन, यहाँ हमारा सरोकार भविष्य में कभी पेजंट जीवन या संस्कृति से संपूर्णतया मुक्त हुआ भी जा सकता है या नहीं इस सवाल से नहीं है।

हमारे यहाँ का पेजंट समाज

हमारे देश के पेजंट समाज अन्य पेजंट समाजों से, विशेषतः यूरोप या पश्चिम के पेजंट समाजों से काफी अलग थे। दोनों में एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर

तो यह है कि हमारे यहाँ कभी 'सामंती प्रथा' (feudalism) थी ही नहीं। ऐसा लगता है कि इसलिए हमारे यहाँ पेज़ंट पश्चिम की अपेक्षतया कम प्रताड़ित था। भारतीय पेज़ंट ने शायद ही कभी अपनी उपज के छठे हिस्से से अधिक राज्य या राजनीतिक सत्ताधारियों को दिया हो। यूरोप में स्थिति इसके एकदम विपरीत थी। उत्तरी फ्रांस (नोर्मांडी) पर दसवीं सदी से काबिज हुए उत्तर यूरोप से आये नॉर्स लोग नॉर्मन कहलाते हैं। ज्यारहवीं सदी में इंग्लॉण्ड पर नॉर्मनों ने चढ़ाई कर दी और भारी विजय प्राप्त की। उसके बाद से अंग्रेज पेज़ंट अपने राजनीतिक मालिकों को उपज का सत्तर फीसदी हिस्सा दिया करता था। अपनी उपज का छंठा हिस्सा देने की प्रथा भारत ही नहीं पूरे दक्षिण एशिया में प्रचलित थी। इस स्थिति से यह अनुमान बनता है कि अपने यूरोप के साथी की तुलना में यहाँ का पेज़ंट कहीं अधिक स्वायत्त, स्वतन्त्र और कम शोषित था। यह कहना भी उचित होगा कि जाति वह सामाजिक संस्था थी जिसने हमारे यहाँ के पेज़ंट समाजों के बिखराव की रोक-थाम और उनकी स्वायत्तता को बचाए रखने में अव्वल भूमिका अदा की होगी।

अंग्रेजों के आगमन ने इन व्यवस्थाओं को झकझोर कर रख दिया। देश पर काबिज होते ही जो पहला काम अंग्रेजों ने किया वह था परमार्नेट सेटलमेंट एकट, १७१३ को लागू करना। इसके तहत ज़र्मीदारों का वर्ग अस्तित्व में आया। इस वर्ग को पेज़ंट से राजस्व मंडलों द्वारा तय लगान वसूलने और वह न मिलने पर उसकी जमीन जब्त करने के अधिकार बहाल हुये। इन मंडलों द्वारा तय लगान के स्तर के लगान हमारे यहाँ कभी भी लागू नहीं थे। अंग्रेज गवर्नरों को यह पता लगने पर काफी खीज हुई कि यहाँ तो लगानों के कम होने के साथ ही तमाम जमीनें लगान-मुक्त भी हुआ करती थीं। यह भी कि इस प्रकार की जमीनें देश के अधिकतर हिस्सों में अस्तित्व में थीं और उनकी मात्रा उपजाऊ जमीनों के लगभग ३०-४० प्रतिशत थी। इन जमीनों को मन्यम, या माफी या ईनाम जमीनें कहा जाता था, तथा ये तमाम व्यक्तियों, संस्थाओं और सामाजिक कार्यों के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों के पास थीं। अंग्रेजों ने तरह-तरह के तर्कों के आधार पर इन जमीनों के अधिकारों को समाप्त करने के प्रयास किये। एक तरीका था यह दोष जड़ने का कि ये मन्यम / ईनाम जमीने जिनके पास थीं उन्होंने वे कार्य किये ही नहीं जिनके लिये कि जमीनें उनको बहाल हुई थीं। इस प्रकार पचास साल में लगभग सभी मन्यम / ईनाम जमीनों के अधिकार समाप्त कर दिए गये।

हमारे देश के पेज़ंट समाज पश्चिमी देशों के पेज़ंट समाजों से अलग प्रकार के थे ऐसा मानने का कारण मात्र यही नहीं है कि यहाँ सामंती प्रथा नहीं थी। यूरोप के पेज़ंट की तुलना में लगान बहुत कम होने के अलावा, अध्ययनों में सामने आये आँकड़े यह भी बताते हैं कि सिंचाई और स्थायी खेती के लिए जखरी सामूहिक जमीनें तथा जंगल जैसी अन्य व्यवस्थाओं के बारे में यहाँ के पेज़ंट समाज स्वायत्त थे। इन समाजों के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाओं के प्रबंधन और सातत्य के लिए वे अपनी उपज का काफी बड़ा हिस्सा अलग कर लेते थे। इस विषय में लगाए गये अनुमान बताते हैं कि धोबी, नाई, लोहार, बढ़ई आदि की कारीगर सेवाओं के लिए गाँव की उपज का १५ से ४० फीसदी हिस्सा गाँव की तरफ से बहात हुआ करता था। प्रखर गांधीवादी विचारक धरमपाल जी के तमिल नाडु के चेंगलपट्टू जिले के २००० गाँवों के लिए उपलब्ध वर्ष १९६० के आंकड़ों के अध्ययन से ये तथ्य उजागर हुए हैं। हमारे देश के अन्य हिस्सों में भी कमोबेश इसी प्रकार की व्यवस्थाएं रही होंगी। इसका अर्थ यह निकलता है कि अंग्रेजों के आने से पहले यहाँ के पेज़ंट समाज अपेक्षतया अधिक स्वायत्त थे।

स्वतंत्रता के बाद की प्रक्रियाएं

अंग्रेजों से स्वतंत्रता हासिल करने के बाद पेज़ंट के लिए स्थितियों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। बेनामी ज़र्मीदारी (absentee landlordism) को समाप्त करने के लिये केन्द्रीय कानून बने। कुछ राज्यों ने भी ऐसे कानून बनाये। साथ ही ‘जो जोते, जमीन उसी की’ के लिए भी कानून ईजाद हुए। हालांकि, इन कानूनों को धीरे धीरे ही लागू किया जा सका, अंग्रेजी शासन ने तबाह किये गाँवों में स्थिति काफी बदली। यूरोप में तो पेज़ंट अपनी जमीन से निष्कासित हुआ और शहरों में जाकर नये उद्योगों में वेतनधारी गुलाम बन गया। इसके विपरीत हमारे यहाँ गाँवों से शहरों में किसी बड़े पैमाने का स्थानान्तरण नहीं हुआ। इसका कारण उद्योगों का अभाव हो सकता है। यह भी कारण रहा होगा कि हमारे यहाँ पेज़ंट समाज में बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की थीं जो जमीन के छोटे टुकड़ों पर खेती किया करते थे।

हो सकता है कि गाँवों से स्थानान्तरण छोटे पैमाने पर ही हो पाने में जाति की भूमिका भी काफी महत्वपूर्ण रही हो। जो पेज़ंट शहरों में जाकर उद्योगों

में अकुशल कामगार बने भी, उनमें से बहुतेरे अपने परिवारों को गाँवों में ही उनकी जोत की जमीन पर छोड़ गए। इस तरह जो शहरों में जाने के लिए बाध्य हुए, या जो बम्बई-कलकत्ता की चमक-दमक से आकृष्ट भी हुए, उन्होंने गाँव से अपना रिश्ता तोड़ नहीं दिया। इस बात में भी यहाँ का पेज़ंट यूरोप के पेज़ंट से अलग दिखता है। उदाहरण के तौर पर, आज भी जो हिन्दुपुर, कृष्णगिरि या धर्मपुरी जिलों के गाँवों से बैंगलूरु आकर ठेला-गुमठी चलाते हैं, या चमड़े का काम करते हैं या अस्थायी मजदूरी करते हैं, हर साल बोआई-कटाई के दौरान अपने गाँव वापस जाकर परिवार के कामों में हाथ भी बँटाते हैं।

इस संदर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात है। यूरोप ने सामंतवाद (feudalism) से पूँजीवाद (capitalism) में परिवर्तन की जिस प्रक्रिया का अनुभव किया वह नितांत हिंसक थी। हमारे यहाँ पेज़ंट तरीके की खेती का व्यावसायिक खेती में परिवर्तन बिना किसी बड़ी भारी उथल-पुथल के हुआ। भूमि-सुधार, व्यापारी कृषि की पैरोकारी, यांत्रिकीकरण, रसायनिक खादों का भरपूर समर्थन, देश के अधिकतर हिस्सों में सिंचाई की व्यवस्थाओं का विस्तार, खेती के आधुनिकीकरण में सरकार की भारी पहल और कृषि-विश्वविद्यालयों को बढ़ावा इन सभी ने पेज़ंट को फार्मर बनाने में मदद की। पिछली सदी के सातवें दशक तक हरित क्रान्ति के चलते 'भूमि-सुधार' राजनीतिक दलों के घोषणापत्रों से ओझल हो गया। 'बंधुआ मजदूरी प्रथा की समाप्ति' और 'जो जोते, जमीन उसी की' की जगह 'फसलों के लिए लाभकारी दाम' और 'उपजों की सरकारी खरीद' पर जोर दिखाई देने लगा। हमारा कहना यह कर्तई नहीं है कि भारत में जिस सामंती व्यवस्था के अस्तित्व की बात की जाती है वह स्वतंत्रता के बाद शान्ति से विसर्जित हो गई। लेकिन यह कहना भी शायद गलत न होगा कि स्वयंपूर्ण जीवन-निर्वाही खेती से व्यावसायिक खेती में परिवर्तन का रास्ता अधिकतर समतल ही रहा। खेती को बाजारों से जोड़ने और पूँजीवादी खेती को बढ़ावा देने के लिए उठाये गए नीतिगत कदमों की कोई बड़ी खिलाफत हुई हो, ऐसा नहीं है। खेती की नई तांत्रिकी, यांत्रिकीकरण, अधिक उत्पादन देने वाले हाइब्रिड बीज और रसायनिक खादों की सरकारी पैरोकारी को भी किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। 'खेती का आधुनिकीकरण' उस जमाने का बड़ा नारा था। जिन्होंने नई पञ्चतियों का स्वीकार किया उनको प्रगतिशील किसान घोषित किया गया, शहरों की सैर कराई गई और नगद इनामों और उपाधियों से नवाज़ा गया।

पिछली सदी के आठवें दशक के आते-आते जो फार्मर संगठन देश के कई राज्यों में बनने लगे, उनकी माँगें उपज के दाम, बाजार, बिजली और खादों के लिए सब्सिडी इनसे सम्बन्ध रखती हैं। नवें दशक तक यह साफ़ हो गया था कि छठे दशक की मुख्यतया पेजंट-अर्थव्यवस्था व्यवसायी पूंजीवादी खेती व्यवस्था में परिवर्तित हो चुकी है। खेती के आधुनिकीकरण और व्यवसायीकरण से पहले रूस और कुछ अन्य देशों ने राज्य के संगठित बल के सहारे सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को अंजाम दिया था। ऐसा जान पड़ता है कि हमारे यहाँ आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अपेक्षितया कम कष्ट-दायी रही। हो सकता है कि इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ ये परिवर्तन काफी बाद में हुए। फिर भी उन अन्य देशों में भी जहाँ स्थितियां कमोबेश हमारे जैसी ही थीं, ये परिवर्तन उतने 'शांतिमय' नहीं थे जितने कि यहाँ।

अंत में ... फार्मर आन्दोलनों के संदर्भ में अक्सर, विशेषतः पिछले साल के आन्दोलन के बाद से एक प्रश्न किया जाता है। वह यह है कि, 'क्या फार्मर भारत पर राज कर सकता है?'। 'क्या ये आन्दोलन हमारे सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे में मौलिक परिवर्तन कर सकते हैं?' दूसरे शब्दों में, 'क्या फार्मर सामाजिक क्रान्ति का जनक हो सकता है?'। इस पर मेरा अपना अनुमान यह है कि ऐसी कोई बात नजर नहीं आती जिसके बल पर यह कहा जा सके कि फार्मर वास्तव में समाज बदलना चाहते हैं। मैं फार्मर के वर्ग-चरित्र, या उनकी सामाजिक चेतना, या समाज-परिवर्तन के लिए उनकी गोलबंदी के सवालों में नहीं जाऊँगा। लेकिन मुझे ऐसा महसूस होता है कि संयुक्त किसान मोर्चा के नेतृत्व में फार्मर राजनीति में कूदने से कतराता है। बार-बार अपनी गैर-राजनीतिकता की उनकी घोषणा दो ही बातों की संभावना इंगित करती है: एक तो यह कि राजनीतिक भूमिका लेने की उनकी आज मानसिकता नहीं है; या फिर यह कि वे अपने आप को देश की राजनीति को आकार देने वालों की भूमिका में नहीं देखते। यह भी सच है कि मेरे पास इस 'राजनीतिक निरीच्छा' का कोई खुलासा नहीं है।

संभव है कि लेनिन ने जिसे (अक्टूबर १९१७ की रूसी क्रान्ति से पहले ट्रेड-यूनियनों की संघर्ष-प्रणाली की जिस बीमारी को) अर्थवाद कहा वही आन्दोलन पर हावी है।



फेसबुक पोस्ट

किसान आन्दोलन और राजनैतिक दर्शन

२१ दिसंबर २०२०

सुनील सहस्रबुद्धे

कल दिनांक २० दिसंबर २०२० को दोपहर १२ बजे विद्या आश्रम के सारनाथ परिसर में किसान आन्दोलन के शहीदों को श्रद्धांजलि दी गई। जमा हुए लोगों ने खड़े होकर २ मिनट का मौन रखा और इन शहादतों के लम्बे क्रम की गंभीरता और उसके द्वारा संचये आन्दोलन द्वारा भारत के भविष्य के लिए कितना बड़ा और कैसा योगदान हो सकता है इस पर चर्चा की।

विद्या आश्रम को बनाने वाले लोग १९७० के उत्तरार्ध से ही किसान आन्दोलन में सक्रिय रहे हैं। विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न राज्यों (तमिलनाडु, कर्णाटक, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, हरियाणा और पंजाब) में सक्रिय भूमिका निभाते हुए इस राष्ट्रव्यापी आन्दोलन में मज़दूर किसान नीति पत्रिका के प्रकाशन के मार्फत समन्वय का काम किया। साथ में वे पढ़ने-लिखने वालों और समाज से सरोकार रखने वालों के बीच किसान आन्दोलन का सन्देश लेकर गए। हमने पाया था की किसान आन्दोलन स्वदेशी दर्शन से प्रेरित रहा। समाज में किसान की क्या भूमिका है, हो सकती है और उसके लिए किन परिस्थितियों के निर्माण की आवश्यकता है इस पर हमेशा ही व्यापक चर्चाएँ होती रहीं। लोकविद्या के विचार का जन्म इसी क्रम में हुआ। किसान आन्दोलन के सन्देश को विद्या के क्षेत्र में और दर्शन के स्तर पर बनाने और प्रेषित करने का प्रयास किया।

पहले से ही और आज का भी किसान आन्दोलन एक राजनैतिक हल की मांग करता है।

कल यह चर्चा हुई कि कृषि को घाटे में रख कर ही पूँजी संचय की नीतियां केन्द्रीय सरकार बनाती हैं। कृषि तो पहले से ही घाटे में है, ये नए कानून इस घाटे को दुगना-तिगुना कर देंगे और किसानी में बड़े कार्पोरेट दखल को विधि सम्मत बना कर बढ़ावा देंगे सो अलग।

१. इसलिए कानूनों का वापस होना तो किसान की ज़िन्दगी के लिए अनिवार्य ही है। तथा उस व्यवस्था पर भी चर्चा होनी चाहिए जो कृषि को घाटे में न रखे – उद्योग और कृषि के बीच वह दोस्ताना समन्वय बनना

चाहिए जो कृषि को घाटे से उबार दे और बराबरी की आर्थिक सामाजिक गतिविधि का दर्जा दे।

- २. इसके लिए यह ज़रूरी है कि
- क. किसान के ज्ञान को विश्वविद्यालय के ज्ञान की बराबरी का दर्जा मिले तथा
- ख. यह भी कि कृषि को पूरी तरह से प्रदेशों के विषय का दर्जा मिले और वे यह ज़िम्मेदारी पूरी कर सकें इसके लिए केन्द्र से प्रदेशों को वित्तीय संसाधन उपलब्ध किये जाये। तब ऐसे कानून नहीं बन पाएंगे और यदि बन भी गए तो अगर दस लाख किसान राजधानी घेर लेंगे तो कोई प्रदेश सरकार ऐसी जुर्त नहीं कर सकेगी जो केन्द्र सरकार आज कर रही है।
- ग. बात राजनैतिक दर्शन की है। शासन प्रदेश स्तर पर होना चाहिए और केंद्र को समन्वय की भूमिका निभाना चाहिए। केंद्रीकृत व्यवस्थाओं के स्थान पर उन शासकीय इकाइयों अथवा व्यवस्थाओं को वरीयता देनी होगी जो लोगों के नज़दीक हैं।



किसान सत्ता का विचार

२४ दिसंबर २०२०

सुनील सहस्रबुद्धे

चौथरी चरण सिंह बड़े लेकिन 'बहिष्कृत चिन्तक' थे। यह सही है कि उनके विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जैसे पहले थे। दो बातें याद आ रही हैं—एक यह कि उन्होंने भारत का गृहमंत्री रहते हुए १९७८ में भारतीय अर्थ व्यवस्था की रूपरेखा पर एक किताब लिखी। विस्तार से यह समझाया कि कृषि, छोटे उद्योग और बड़े उद्योग इस क्रम में प्राथमिकताओं को कैसे सुनियोजित किया जाए जिससे अर्थ व्यवस्था सबके भले की होगी और प्रगति पथ पर अग्रसर रहेगी। दूसरी यह कि १९७८ में २३ दिसंबर को चरण सिंह के आवाहन पर दिल्ली में एक किसान सम्मलेन किया गया। बोट क्लब में इतने लोग शायद ही कभी पहले जमा हुए हों। लाखों की तादाद रही। रोचक बात यह है कि इस सम्मलेन को अराजनीतिक कहा गया और अगर मेरी याददाश्त साथ दे रही है तो उसी में चरण सिंह ने 'किसान सत्ता' की भी बात की। तब से आज तक यह

चुनौती बनी हुई है कि किसान आन्दोलन किस तरह से अराजनीतिक भी बना रहे और किसान सत्ता को भी आकार दे. सभी राज्यों के किसान आन्दोलन के नेता इस द्वंद्व से लगातार अपने-अपने ढंग से जूझते रहे हैं. पिछले एक साल के सघन किसान आन्दोलन ने सैकड़ों प्राणों की आहुति देकर न्याय, त्याग और भाईचारा के विचारों को फिर से जमीन पर लाया है. देश और दुनिया को नया रास्ता देने के कगार पर यह आन्दोलन खड़ा है. गाँव और किसान की पहल पर और उन्हीं के नेतृत्व में यह रास्ता बने. चरण सिंह को यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी.



राजा और किसान

२५ दिसंबर २०२०

सुनील सहस्रबुद्धे

राजा और उसके तरफदारों के बारे में अक्सर ये कहा गया कि वे जानते नहीं कि वे जानते नहीं. वे सोचते हैं कि वे जानते हैं. और वे, जो रोज़मर्रे की ज़िन्दगी जीते हैं, वास्तविकता से वास्तव में रुबरू हो रहे होते हैं, जो नशे में नहीं होते, न सत्ता के और न ज्ञान के, वे अक्सर नहीं जानते कि वे जानते हैं. और अगर, जानते भी हैं कि वे जानते हैं, तो समाज में उनकी ये पहचान नहीं होती.

जानने और न जानने के बीच की यह संगति और असंगति सुलझने के लिये एक बुनियादी राजनीतिक दखल की मांग करती है. यह आज की तारीख का समाज-सुधार या समाज-परिवर्तन की राजनीति का पहला कदम है.

सरकार कह रही है कि किसानों के समझ में नहीं आ रहा है. किसान कह रहे हैं कि सरकार उनके ऊपर बड़ी भारी ज्यादती कर रही है. जिस युग में कृषि विज्ञान के संस्थान किसान को कृषि कार्य सिखाने के प्रशिक्षण आयोजित करते हैं, उस युग में शासक और उनके तरफदार अगर ये कहें कि किसान को समझ में नहीं आ रहा है तो अचरज की क्या बात है?

अंग्रेज़ों ने १९वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की कृषि का विस्तृत अध्ययन/सर्वेक्षण कराया. वह इसलिए कि यहाँ की कृषि में ऐसे सुधार करने थे जिससे राजस्व बढ़ता और साथ ही इंग्लैण्ड में नई रासायनिक खेती में लगने वाली

वस्तुओं (रसायनों) के नए उद्योग आ गये थे, जिनके लिये उपनिवेशों में बाजार की खोज थी। इस सर्वेक्षण ने यह बताया कि यहाँ का किसान अपनी खेती के हर पहलू, उत्पादन के संगठन, उसके इस्तेमाल और आस-पास की प्रकृति व वातावरण/पर्यावरण का बड़ा जानकार है और उसकी खेती में सुधार के लिए बाहर से सुझाव देने की कोई गुंजाईश नहीं है। केवल विभिन्न क्षेत्रों के किसानों द्वारा अपने ज्ञान के आपसी लेन-देन में ही कृषि में सुधार के सूत्र हो सकते हैं।

हमेशा से यह माना गया है कि किसान अपने कर्म और जीवन संगठन का बड़ा जानकार है। किसान आन्दोलन के नेताओं का शुरू से यह कहना रहा है की सरकार उसके उत्पादन का न्यायसंगत लाभकारी मूल्य सुनिश्चित कर दे तो किसान जैसी पैदावार करके दिखा सकता है वैसा किसी बाहरी हस्तक्षेप से नहीं किया जा सकता। देश की ज़रूरत के रूप में समझें, गरीब वर्गों की ज़रूरत के रूप में समझें, क्षेत्रीय आवश्यकताओं के रूप में समझें या पर्यावरणीय दृष्टिकोण से समझें, आवश्यक और उत्कृष्ट खेती का ज्ञान और विस्तृत समझ तो किसान ही रखता है।

सरकार का काम खेती में दखल देने का नहीं बल्कि किसान जैसी परिस्थितियां चाहता है वैसी परिस्थितियां निर्माण करने का है।



जहाँ गाँव नहीं वहाँ सभ्यता नहीं

४ जनवरी २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

वर्तमान किसान आन्दोलन और उसके प्रति भारत सरकार के रवैये के चलते कुछ मौलिक बातों पर ध्यान आकर्षित हो रहा है।

वाराणसी में सारनाथ स्थित तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान के भूतपूर्व निदेशक रिन पॉछे कहा करते थे कि जहाँ गाँव नहीं वहाँ सभ्यता नहीं। यानि गाँव मानवीय सभ्यता की मौलिक सामाजिक संरचना है। गांधीजी ने जो गाँव को स्वराज की मौलिक इकाई के रूप में बार बार सामने रखा उसके आधार में भी ऐसी ही सोच काम कर रही हो ऐसा प्रतीत होता है।

किसान आन्दोलन का समर्थन करने वालों ने बार-बार किसानों को अन्नदाता कहा है। वह समाज जो केवल बाजार और राज्य सत्ता का पुच्छिला

मात्र नहीं रह गया है किसान को अन्नदाता के रूप में, स्त्री को अन्नपूर्णा के रूप में और गाँव को सभ्यता की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में पहचानता है। भारत के साधु-संतों की परंपरा देखें तो पाएंगे कि वे मूर्त और अमूर्त में फर्क नहीं करते, भौतिक और आध्यात्मिक के बीच फर्क नहीं करते, शरीर और आत्मा की संगीति में ही ज्ञान और जीवन को धन्य होता देखते हैं। जिस तरह गाँधी के आन्दोलन ने खादी को लेकर यह नारा दिया कि ‘खादी वस्त्र नहीं विचार है’ उसी तरह उनके गाँव के प्रति आग्रह के चलते यह कहा जा सकता है कि गाँव जितना भौतिक है उतना ही आध्यात्मिक है। वहाँ शरीर और आत्मा को अलग-अलग करके नहीं देखा जाता। सत्य की पहचान मूर्त और अमूर्त की संगीति में ही देखी जाती है।

सवाल केवल भाजपा की सरकार और अडानी अम्बानी का नहीं है, ये तो समस्या हैं हीं, तथापि किसान आन्दोलन की रीति-नीति यह कहते दिखाई दे रही है कि वर्तमान व्यवस्थाओं और उसकी जकड़न से मुक्त होने के लिए हमें अपनी दर्शन परंपरा से कुछ बुनियादी सीख लेनी होगी और इसके अनुरूप ही मनुष्य की आचरण संहिता बननी होगी। कानून की बहस कीजिये लेकिन उसके दायरे में मत बंधिए, प्रतिनिधि सभाओं, विधायिकाओं आदि को जायज़ सम्मान दीजिये लेकिन उन्हें सब कुछ मत मान लीजिये। मनुष्य के भाज्य/भविष्य की रचना मनुष्य को करनी है। पूंजी और बाज़ार को जहाँ ले जाकर बैठा दिया गया है वहाँ से उसे नीचे उतारिये। किसान आन्दोलन यह कह रहा है कि यह संभव है।



स्वराज संवाद-१

७ फरवरी २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

हमारे जितने भी मित्र और साथी समाज से सरोकार रखते हैं वे सब देश में चल रहे किसान आन्दोलन के समर्थक हैं। वे किसानों का कष्ट गहराई से महसूस करते हैं और चाहते हैं कि आन्दोलन और सरकार के बीच का गतिरोध जल्दी से जल्दी समाप्त हो। किसान आन्दोलन और सरकार के बीच कई दौर की बैठकें हो चुकी हैं। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि वास्तव में कोई वार्ता हो रही है। वार्ता क्यों नहीं हो पा रही है? शायद इसलिए कि देश और समाज के

भविष्य और खुशहाली का जो दृष्टिकोण किसान का है, वह देश और दुनिया में जो चलन आज है उससे बिलकुल ही मेल नहीं खा रहा। उसे अपना दरिद्रीकरण मंजूर नहीं और उसके काम और जीवन के बारे में कोई और निर्णय लेता रहे यह मंजूर नहीं। आधुनिक दुनिया में, उद्योगों और महानगरों की दुनिया में, और केंद्रीकृत शासन व्यवस्थाओं में, गाँव और किसान शुरू से ही तिरस्कृत रहे हैं। उनकी मेहनत और उनके ज्ञान से जिस सम्पदा का निर्माण होता है, उससे ही आधुनिक उद्योग बनते हैं, महानगर बनते हैं और पूरी की पूरी आधुनिक जीवन शैली बनती और चलती है। अब ये बातें चाहे निजी उद्यमों के मार्फत हों या सरकार के हाथों से हों। इसलिए फौरी तौर पर यह गतिरोध खत्म हो जाये तो भी लम्बे दौर के हल के बारे में सोचना लाजमी होगा। इस बारे में सोचने का एक छोटा सा प्रयास यहाँ किया जा रहा है।

अनाज को बाजार से अलग रखना ज़रूरी है और यह भी ज़रूरी है कि अनाज का उत्पादन आर्थिक दृष्टि से उतना ही आकर्षक हो जितनी आकर्षक कोई और खेती हो सकती है। यहाँ पर कृषि क्षेत्र में सरकार के दखल की सबसे बड़ी ज़रूरत है। कहते हैं कि जिस साल कृषि उत्पादन को कुछ ठीक-ठाक दाम मिलता है, गाँव और कस्बों के बाजारों में तेज़ी आ जाती है। यहाँ पर विकास और खुशहाली के मिलन का बिंदु है। पैसे की इस गति से जितना और जैसा आधुनिकीकरण हो सकता है उतना ही और वैसा ही हमें चाहिए। कृषि से असम्बद्ध पूँजी का निवेश जब कृषि में होगा और सरकारी नियंत्रण उस पर नहीं होगा तो किसान का शोषण बढ़ेगा और उस प्रक्रिया से उत्पन्न पैसा महानगरों के बड़े बाजारों में और अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में गति पैदा करेगा। उससे अपने देश के २-४ फीसदी लोगों को जो लाभ हो जाए वह हो जाए, बाकी, यही वह रोजगार विहीन विकास है जिस मुकाम पर पश्चिम के देश पहुँच गए हैं। और अपनी सरकारें भी अपने देश को उसी मुकाम पर ले जाने के लिए तत्पर हैं।

समाज से सरोकार रखने वाले लोग यह कह रहे हैं कि अपनी राजनीतिक व्यवस्था ऐसी बन गई है जिसमें विधान मंडलों में बैठे हुए लोगों के दिल में देश की जनता या किसान की खुशहाली का सवाल नहीं रह गया है। इसका प्रमुख कारण यह मालूम पड़ता है कि सार्वजनिक सामाजिक क्षेत्र में नैतिकता का सवाल प्रासंगिक नहीं रह गया है। यानि अगर बाजार में कोई नैतिकता की बात

करे तो लोग उसे मूर्ख कहेंगे। बाज़ार और राजनीति में नैतिकता के सवाल को स्थान कैसे मिले यह आज का सबसे बड़ा सवाल मालूम पड़ता है। यानि खरीद फरोख्त के कार्यों में लाभ कितना होगा इससे ज्यादा महत्व की बात यह होनी चाहिये, कि हम जो कर रहे हैं वह नैतिक दृष्टि से सही है या नहीं। शासन या सरकार जब कोई नीति बनाये या कानून पारित करे तो वह वांछनीय है या नहीं, इसकी पहली कसौटी नैतिक होनी चाहिये, बाकी बातें उसके बाद में आएँगी। चुनावी प्रतिस्पर्धा में जब नैतिक प्रश्न गौण हो जाता है, राजनीतिक दल उम्मीदवार तय करते समय जब केवल जीत पाने की संभावना को सर्वोच्च कसौटी बना देते हैं, वहीं पर ‘ईमानदारी से प्रतिनिधित्व’ का गला धोंट दिया जाता है। जीत कर आने वाले पर जनता के बारे में सोचने का प्रतिबन्ध नहीं रह जाता। ठीक उसी तरह से जैसे अपनी चालाकियों और निर्मम प्रबंधन के बल पर बाज़ार में पैसा कमाने वालों के मन में समाज के और लोगों के प्रति कोई भाईचारे का भाव नहीं रह जाता। शायद यह देखना कठिन नहीं है कि किसान आन्दोलन और सरकार के बीच कई बैठकों के बावजूद वार्ता न हो पाने का कारण इन्हीं बातों में है। सार्वजनिक संवाद में जब तक नैतिकता की कसौटी को उचित स्थान नहीं मिलता, तब तक ये गतिरोध समाप्त नहीं होने वाले हैं।

अनाज, खाद्यान्न या अन्न जो भी कहिये, मनुष्य की इस मूल ज़रूरत से बाज़ार को दूर कैसे किया जा सकता है, इस पर गहन चिंतन और संवाद की ज़रूरत है। यह चिंतन हमें उस ओर ले जा सकता है जहाँ नैतिकता का प्रश्न सार्वजनिक बहसों का हिस्सा हो और इसमें से उन व्यवस्थाओं के बारे में सोचने का मार्ग खुले जिनके केंद्र में मनुष्य, प्रकृति, देश और समाज के भले का विचार अवस्थित हो। स्मरण दिला दें कि भ्रष्टाचार के विरोध में जो एक बहुत बड़ा आन्दोलन लगभग दस साल पहले हुआ था, उसने ‘स्वराज’ को फिर से बहस में लाया था। शायद आम समझ में ‘स्वराज’ वह शासन और समाज की व्यवस्था है, जिसका आधार नैतिकता, सत्य और भाईचारे में होता है, न कि प्रतिस्पर्धा, निजी लाभ और सत्ता के विचार में। क्या स्वराज के इदं-गिर्द सामाजिक-राजनैतिक संवाद चलाना नैतिकता को वापस सार्वजनिक कसौटी के रूप में स्थापित करने की ओर बढ़ने की शुरुआत हो सकता है?



स्वराज संवाद-२

१७ फरवरी २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

किसान आन्दोलन और सरकार के बीच की जिच कुछ हल होने का नाम नहीं ले रही है। एक ओर सरकार (संसद में बहुमत) का निर्णय है और दूसरी ओर किसानों की समझ जिसकी झलक संयुक्त किसान मोर्चे के वक्तव्यों और महापंचायतों की प्रक्रियाओं में मिलती है। सरकार किसानों के फायदे की बात कर रही है और किसान 'न्याय' की बात कर रहा है।

संसद जिस ज्ञान की दुनिया से जुड़ा राजनीतिक उपकरण है वह ज्ञान की दुनिया 'फायदे और नुकसान' के तर्कों से बंधी है। यह वही ज्ञान की दुनिया है, जिसका जन्म कुछ ४-५ सौ साल पहले यूरोप में हुआ, उसी प्रक्रिया में हुआ जिसमें नये शहर और नये व्यापार व बाज़ार ने आकार लिया, जिसने गाँव और किसान को दूसरे नंबर का बना दिया। नागरिक वे हो गए जो नगर में रहते थे। समयांतर में इसी प्रक्रिया में संसदीय लोकतंत्र का जन्म हुआ। इस ज्ञान की दुनिया में नैतिकता, न्याय, त्याग, आदि का कोई स्थान नहीं होता। यही ज्ञान आज के विश्वविद्यालयों का आदर्श है। दूसरी ओर जिस ज्ञान की दुनिया में किसान बसता है उसकी परंपरा अलग है। इसे हम स्वदेशी ज्ञान परंपरा कह सकते हैं, जहाँ न्याय, त्याग अथवा 'लोकसम्मत' की अन्तरंग उपस्थिति होती है।

इन दो ज्ञान-विश्वों के बीच के गहरे अंतर ही हल न निकल पाने की पृष्ठभूमि में हैं, ऐसा लगता है। इसमें से रास्ता निकालना आसान नहीं है। सरकार के पास भौतिक ताकत ज्यादा है और वह कोई बल आधारित हल खोज सकती है, लेकिन दोनों ही पक्षों के लिये वह सम्मानजनक नहीं होगा, उससे दोनों ही पक्ष आहत होंगे। बहरहाल रास्ता क्या निकलेगा यह तो इस गतिरोध के विविध पक्षों का नेतृत्व करने वाले ही तय करेंगे। शायद वे दोनों पक्षों के लिये सम्मानजनक हल भी ढूँढ़ लें लेकिन एक बात तो साफ़ नज़र आ रही है कि न्यायोचित और प्रभावी शासन के लिये संसदीय लोकतंत्र और पंचायत दोनों के मूल्यों को समाहित करने वाली नई व्यवस्था की ओर बढ़ने के रास्ते भी ढूँढ़ने होंगे।

नई व्यवस्थाओं की खोज में पूरे समाज को शामिल होना होगा। समाज में जितनी भी ज्ञान की धाराएँ हैं उनके बीच भाईचारा और सौहार्द से ही वांछित

उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। मोटे तौर पर कहें तो विश्वविद्यालय के ज्ञान और लोकविद्या यानि 'समाज में ज्ञान' के बीच दोस्ताने का सम्बन्ध होना होगा। दोनों को एक दूसरे में निहित पारस्परिक निर्भरता, स्वायत्तता और प्रभुसत्ता को मान्यता देनी होगी। भारत देश ऐसे शासन और समाज सञ्चालन से अनभिज्ञ नहीं है। स्वराज की परम्पराएँ कुछ ऐसी ही हैं।



स्वराज संवाद- ३

२८ फरवरी २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

किसान आन्दोलन किधर चला? इस सवाल के दो हिस्से हैं। पहला यह कि क्या हाल में बनाये गए तीन कृषि कानून वापस होंगे और न्यूनतम समर्थन मूल्य को वैधानिक दर्जा मिलेगा? दूसरा यह कि पूरे समाज का रूप लिए यह विशाल किसान आन्दोलन समाज के भविष्य के बारे में क्या कह रहा है?

मीडिया और सामाजिक कार्यकर्ता सब पहले प्रश्न के इर्द-गिर्द बहस कर रहे हैं तथापि उसमें हमें कोई नई बात नहीं कहनी है। इस पोस्ट में हम दूसरे प्रश्न पर ध्यान केन्द्रित करेंगे तथा यह बातचीत पहले प्रश्न के लिए भी प्रासंगिक होगी ही।

१९७०, १९८० और १९९० के दशकों में इस देश में किसानों का एक देशव्यापी विशाल आन्दोलन हुआ जिसकी धार विशेषतौर पर तमिलनाडु, कर्णाटक, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, हरियाणा और पंजाब में बड़ी तेज़ रही। इस आन्दोलन के साथ जुड़े बड़े नाम हैं- तमिलनाडु के नारायण स्वामी नायडू, कर्णाटक के नन्जुन्द स्वामी, महाराष्ट्र के शरद जोशी, उत्तर प्रदेश के महेंद्र सिंह टिकैत, हरियाणा के मांगेराम मालिक और पंजाब के बलबीर सिंह राजेवाल, अजमेर सिंह लखोवाल, भूपिंदर सिंह मान। हम लोगों ने मज़दूर किसान नीति पत्रिका के मार्फत इस आन्दोलन में समन्वय की भूमिका निभाई और इस आन्दोलन के सन्देश को मध्य वर्ग के लोगों तक पहुँचाया। आन्दोलन का नेतृत्व किसानों के ही हाथ में था। मूल समझ यह रही कि किसानों की गरीबी के कारण गाँव के बाहर हैं। मुख्य मुद्दा रहा- कृषि उत्पाद के लिए न्यायसंगत लाभकारी मूल्य, कर्ज़ मुक्ति और बिजली का दाम भी बड़े मुद्दे रहे। नेतृत्व को यह

साफ़ था कि हालाँकि प्रमुख बात किसानों की माली हालत से जुड़ी रही, उनकी मांगें, उनका दृष्टिकोण और दुनिया की उनकी समझ, सीधे पूरे समाज के हित में रहे. बड़ी सफाई से तर्क पेश किये गए कि किस तरह कृषि उत्पाद के लिए न्याय सांगत मूल्य मिलना गरीबी को जड़ से खत्म करने का पक्का रास्ता बनता है. क्योंकि इसके चलते हर स्तर पर और हर क्षेत्र में आर्थिक गतिविधियों में इजाफा होता है. साफ़ तौर पर यह कहा गया कि कृषि उत्पाद को ढंग का दाम मिलने से स्थानीय बाज़ार में एक चमक और गति दिखाई देती है और कामगारों के श्रम के मूल्य में वृद्धि के रास्ते खुलते हैं. बड़ी कल्पना देश को किसानों के नज़रिए से इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने की रही. सरल शब्दों में यह कि किसानों ने पूरे समाज का नेतृत्व अपने हाथ में लेकर दुनिया को नए सिरे से बनाने के ख्वाब देखे, ऐसी दुनिया जिसमें नियमन नीचे से हो, गाँव से हो और एक वितरित अर्थ व्यवस्था का निर्माण हो. यह बात स्थानीय प्रशासन अथवा स्वराज के विचार से बहुत मेल खाती है.

वर्तमान किसान आन्दोलन में ये सब संकेत मिलते हैं. उत्पादन, वितरण और भण्डारण से सम्बंधित तीन नए कृषि कानूनों को सिरे से खारिज कर देने के आधार में स्वायत्तता का आग्रह तो है ही तथापि संप्रभुता का विचार भी नज़र आता है. क्या यहाँ पर संप्रभुता का कोई नया विचार आकार ले रहा हो सकता है? यह सोचकर लगता है की इस प्रक्रिया में राजनीति का एक नया विचार जन्म ले रहा है.

अब तक विचार और कर्म दोनों में ही सारी राजनीति यूरोपीय विचारों और शासन क्रियाओं से सीख लेकर ही होती रही है. करीब पांच सौ साल पहले यूरोप में जो क्रियाये और विचार शुरू हुए उन्होंने ही आगे चलाकर उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, बड़े उद्योग, और बड़े-बड़े बाजारों का रूप लिया. जो चमक और सम्पदा बड़े शहरों में दिखाई देती है उसका स्रोत गाँव में है, किसान की गतिविधि में है. इसी दौर में यह विचार भी सामने आया कि इन प्रक्रियाओं में किसान का एक सामाजिक वर्ग के रूप में अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा. शायद यह केवल मनमाफिक सोच ही रही कि जिसको लूटा गया है वह संगठित रह ही न जाए यानि उसका सामाजिक अस्तित्व ही समाप्त हो जाये. गांधी ने अपनी ताकत का स्रोत गाँवों को बनाया और इन वैचारिक स्थापनाओं को झुठला दिया. फिर २०वीं सदी के अंतिम दशकों में किसानों को एक नये आन्दोलन ने

इस ताकत का फिर से एहसास कराया। यह आन्दोलन अधिकतर अपने को अराजनीतिक कहता रहा। तथापि राजनीति के अन्दर से ही चौधरी चरणसिंह ने १९७८ में नई दिल्ली के बोट क्लब में लाखों किसानों के सम्मलेन के मौके पर 'किसान सत्ता' का विचार दिया।

१९८० के आस-पास इस देश में अंग्रेजों ने ज़र्मीदारी की व्यवस्था लागू की जिससे किसानों की गुलामी का युग शुरू हुआ। ज़र्मीदारों, अँगरेज़ शासकों और स्वतंत्र भारत के हुक्मरानों के सामने अपना एतराज़ और विरोध दर्ज करते हुए दो सौ साल के किसानों के संघर्ष अब उस मुकाम पर पहुंचे हैं, जहाँ वे अपनी संप्रभुता का दावा पेश कर रहे हैं, कह रहे हैं कि मालिक वे हैं।

महात्मा गाँधी की समझ में अंग्रेजी राज के पहले भारत में किसान और गाँव मालिक हुआ करते थे। किसान आन्दोलन एक बार फिर उनके मालिक होने का दावा पेश करने का आधार बनाता मालूम पड़ रहा है। ऐसे दावे के साथ जाहिर तौर पर वह गति भी दिखाई देनी चाहिए जो एक अलग राज और शासन व्यवस्था की ओर ले जाए, जिसे स्वराज कहा जा सके। स्वराज में संप्रभुता (सभी आयामों में) वितरित होती है। सत्ता और सामाजिक नेतृत्व दोनों ही आयामों में संसद और किसान महापंचायत के बीच प्रतिस्पर्धी दावे दिखाई दे रहे हैं। जिनके चलते उस स्थान का निर्माण हो रहा है, जहाँ सीधी भागीदारी का लोकतंत्र और प्रतिनिधि लोकतंत्र के आपसी संस्लेषण से सर्वथा नये किस्म की निर्णय के तरीके और शासन के प्रकार आकार ले सकते हैं। इस सृजन में बड़ा योगदान हो सकता है यदि भारत के लोगों की यादों, लोकस्मृति की गहराइयों में उतरा जाये।

पूरी गंभीरता के साथ इस विषय से सरोकार रखने वालों को आपस में बात करनी चाहिए कि किसान परिवार की संप्रभुता का क्या अर्थ निकलता है?



न्याय, त्याग और भार्इचारा

२४ मार्च २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

कल भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु की शहादत का दिन था। बहुत बड़ा दिन था। यह समाज में सकारात्मक मूल्यों के संचार का एक बहुत बड़ा

सोत है. सोचने के लिए एक सहारा है. कल ही डा. लोहिया का भी जन्म दिन था. उनके अनुयायी उन्हें 'आदि विद्रोही' कहते हैं, बाकी लोग भी इस पर आपत्ति नहीं करते. कोई तो सबक लेना ही चाहिए. खासकर किसान आन्दोलन के सन्दर्भ में.

अंग्रेजों ने ज़मींदारी की व्यवस्था लागू की तबसे किसान विद्रोह कर रहा है. आन्दोलन कर रहा है. ज़मीन पर नियंत्रण और उसके फल की लूट के तरीके बदलते रहे हैं. सरकारें और पूँजी के बड़े घराने अब इन नए तीन कानूनों को बनाकर और एम.एस.पी. को वेदी पर चढ़ा कर किसान के ज्ञान और श्रम, उसकी ज़मीन और जिन्दगी पर क़ब्ज़ा करके लूट के नए पैमाने गढ़ना चाहते हैं. किसान लड़ रहा है और बड़ी तादाद में और लोग उसका साथ दे रहे हैं. देश के लिए कुछ अच्छा होने वाला है. सैंकड़ों लोगों की शहादत, आन्दोलन में दिन रात शामिल लोगों का त्याग और उनके बीच का भाईचारा देश के लिए एक नई इबारत लिख रहा है. क्या हम उसे पढ़ सकते हैं?

न्याय, त्याग और भाईचारा मोटे तौर पर वे मूल्य नज़र आ रहे हैं जिनके सन्दर्भ में सोचने से किसान की बात कुछ समझ में आ सकती है. किसान-समाज देश की परम्पराओं का बहुत बड़ा वाहक है. अच्छी बातें संजोकर रख लेता है और उसके सहारे जीवन का निर्माण और पुनर्निर्माण करता रहता है. न्याय से तर्क को अलग नहीं किया जा सकता. भारतीय दर्शन की 'न्यायशास्त्र' की धारा को आधुनिक पठन-पाठन में इन्डियन लाजिक के नाम से जाना जाता है. महिलाओं के लिए, किसानों, कारीगरों और आदिवासियों के लिए, मोटे तौर पर कहें तो, सामान्य जीवन में, न्यासंगत होने और तकर्संगत होने में फर्क नहीं किया जाता. त्याग का अर्थ केवल असंचय नहीं होता. अपना समय समाज के लिए देना उसका हिस्सा है. मोह और अहं से अधिकाधिक मुक्ति के लिए त्याग सक्षम रास्ता बनाता है. समाज के नियमन और शासन में भी इसकी प्रकट भूमिका रही है. हर्षवर्थन, भोज और विक्रमादित्य जैसे राजाओं की कहानियाँ अभी भी ऐसे ही नहीं सुनी और सुनाई जाती हैं. न्याय और त्याग का अन्द्रुत संगम है सत्य का मार्ग प्रशस्त करने में.

अंग्रेजों ने जो ज़मीन की व्यवस्थाएं बनाई, वो आज भी बनी हुई हैं। उन्होंने भाईचारे को पट्टीदारी में बदल दिया। क्या अद्भुत क्षय है समाज और उसके मूल्यों का ! किसान के अलावा और कौन हमें इस गहरे गड़बड़े से बाहर निकाल सकता है ! अंग्रेजों के कब्जे के पहले भारत में काफी तादाद में ‘भाईचारा गाँव’ हुआ करते थे, दक्षिण में ये मन्यम गाँवों के नाम से जाने जाते थे। इन गाँवों में उपजाऊ ज़मीन का कुछ वर्षों की अवधि में गाँव के किसान परिवारों में पुनर्वितरण होता था। वहां राजस्व बहुत कम होता था और वे स्वशासन की प्रतिमूर्ति हुआ करते थे।

अंत में केवल इतना ही कि किसान आन्दोलन एक खुशहाल समाज की ओर बढ़ने के रास्ते बता रहा है। किसान ज़मीन का मालिक होगा, उस पर क्या करना वह खुद तय करेगा, और उसके उत्पाद को न्यायसंगत मूल्य मिलेगा तो बात बड़े पैमाने पर बदलेगी। सब जानते हैं की किसान के उत्पाद को जब मूल्य मिलता है तब स्थानीय और क्षेत्रीय बाजारों में बड़ी गति आ जाती है। इसी गति में समाज की पुनर्रचना और खुशहाल समाज की और बढ़ने के सूत्र निहित हैं। केन्द्रीय सत्ता, बड़ी पूँजी और बड़े बाजारों के मूल्य इस प्रक्रिया को रोकने वाले हैं, उनसे सामाजिक मूल्यों के स्तर पर मुकाबला करना होगा। भाईचारा, त्याग और न्याय वे सक्षम मूल्य हैं, जो हमें आगे बढ़ने की गति देंगे।



किसान आन्दोलन : ज्ञान की बात

८ सितम्बर २०२१

सुनील सहस्रबुद्धे

दो सौ साल की अंग्रेजी सोच अभी भी हम सब पर भारी पड़ती है। लोग यहीं कहते हुए पाए जाते हैं कि किसान को उसकी मेहनत का फल नहीं मिलता। यह कोई क्यों नहीं कहता कि किसान को उसके ज्ञान का फल नहीं मिलता ?

किसान एक मेहनतकश के रूप में दिखाई देता है और कारीगर एक मजदूर के रूप में ! पढ़े-लिखे लोग इन्हें हुनरमंद मानने के लिए तैयार हो जाते हैं, जो सर्वथा नाकाफी है और इससे राजनीति की बेड़ियों को तोड़ पाने का

वैचारिक जज्बा नहीं बन पाता. किसान ज्ञानी है. वह खेती के बारे में जानता है, बदलते परिवेश में खेती में बदलाव और सुधार करना जानता है, नई-नई बातें सीख कर अपने ज्ञान भण्डार का विकास करता रहता है. क्या यह सब भी कृषि उत्पाद के दाम में सम्मिलित होता है? न्यूनतम मूल्य के निर्धारण में तो ये तत्व कहीं नहीं दिखाई देते. बहस ज्यादा से ज्यादा अकुशल और कुशल श्रम तक जा पाती है, ज्ञान की बात तो कहीं आती ही नहीं. किसान अपने समाज के व्यवस्थापन का ज्ञान भी रखता है, किसान अपने समाज, ग्राम समाज, की सारी व्यवस्थाएं वह खुद करता है. ऊपर से होने वाले दखल बात बिगाड़ते रहते हैं, फूट डालते रहते हैं, लगातार प्रतिस्पर्धा का माहौल बनाते रहते हैं; लेकिन किसान ही है, जो अपने ज्ञान और आपसी सहयोग के बल पर ऐसी बाहरी दखल के चलते होने वाले नुकसानों की भरपाई करता रहता है. ग्रामीण समाज आज जितना भी पटरी पर है वह किसान के ज्ञान और व्यवहार के बल पर ही है. जब तक किसान अपने ज्ञान का दावा नहीं करेगा तब तक बदलाव की सोंधी बयार नहीं बढ़ेगी, राजनीति का जाल और प्रपंच भेदकर स्वराज की बात करना मुश्किल बना रहेगा.

किसान और कृषि से जुड़े सक्रिय कर्मी समाज और राजनीति की अनुकूल व्यवस्था के रूप में स्वराज की बात कभी-कभी कर लेते हैं, लेकिन उस पर न टिक पाते और न उसे आगे बढ़ा पाते हैं. इसका कारण यह है कि वे किसान के ज्ञान को ज्ञान का दर्जा नहीं दे पाते. जो सक्रिय कर्मी विश्वविद्यालय से पढ़े होते हैं और अपनी पहचान में इसकी बड़ी हिस्सेदारी मानते हैं, उसके वजन में दब जाते हैं. मत भूलियेगा विश्वविद्यालय की दुनिया बहुत बड़ी है, वैश्विक पैमाने की है और ज्ञान की दुनिया में इजारेदारी रखती है. किसी और को सर उठाने का कोई मौका नहीं देती है. इसी के चलते विश्वविद्यालय से पढ़ कर आये लोग उसके माझे अपनी पहचान बनाने के अलावा बहुत बड़ा अहंकार भी पालते हैं. इतना ही नहीं दुनिया तो एक है, जिसके चलते जो विश्वविद्यालय नहीं गया है वह भी विश्वविद्यालय के ज्ञान और उस पर आधारित योग्यता से दब जाता है. अपने ज्ञान की बात नहीं कर पाता. किसान आन्दोलन ही वह अनुदृत स्थान है, जहाँ खड़े होकर किसान अपने ज्ञान का दावा पेश कर सकता है और इसके चलते महिलायें, कारीगर, आदिवासी और फुटकर दुकानदार ये

सभी अपने ज्ञान का दावा पेश कर सकते हैं; उस ज्ञान का दावा जो उन्होंने विश्वविद्यालय से नहीं प्राप्त किया है बल्कि अपने समाज से और अपने कार्यस्थल पर प्राप्त किया है और जिसे वे अपनी तर्क बुद्धि से सतत विकसित करते रहते हैं।

किसान आन्दोलन में भी ये बात सीधे नहीं, तो प्रकारांतर से कही जा चुकी हैं। उन्होंने सरकार द्वारा बनाई विशेषज्ञों की समिति को विशेषज्ञों के नाम आने से पहले ही अस्वीकार कर दिया था। खेती कैसे की जाए और अपना समाज कैसे चलाया जाय इसमें पूँजीपतियों के दखल की व्यवस्था बनाने का ही तो वे विरोध कर रहे हैं, अपनी संसद चलाई है और खुलकर कहा है कि किसान भी संसद चलाना जानता है।

लेकिन प्रकारांतर से कहना काफी नहीं है, सीधे कहना होगा कि किसान ज्ञानी है। उसके ज्ञान का मूल्य मिलना ही होगा। समाज सञ्चालन और व्यवस्था के उसके ज्ञान के आधार पर शासन की व्यवस्थाएं होनी होंगी। स्वराज होना होगा, वितरित, स्वायत्त और विकेन्द्रित व्यवस्थाओं का बोलबाला होना होगा।

गाँव-गाँव में घाट-घाट पर,
जंगल, बस्ती हर पनघट पर,
मेला, हाट और बाट-बाट पर,
कदम-कदम पर विविध ज्ञानधर.
यहीं से अलख जगाना है,
कौन है ज्ञानी, ज्ञान कहाँ-कहाँ,
फैसला यह करवाना है।
किसान आन्दोलन के हों ये बोल,
लोकविद्या के स्वामी बोल,
ज्ञान के अपने दावे ठोक.



लेखकों का परिचय

१. श्री सुनील सहस्रबुद्धे विद्या आश्रम, सारनाथ के अध्यक्ष हैं। पूरी ज़िन्दगी किसान आन्दोलन में सक्रिय रहे हैं। भारतीय किसान यूनियन में विस्तृत भागीदारी रखते हैं। वाराणसी में रहते हैं। किसान आन्दोलन, लोकविद्या, स्वदेशी दर्शन और स्वराज पर और उनके आपसी संबंधों पर दार्शनिक व्याख्याओं के जरिये मानव मुक्ति के समकालीन भारतीय दर्शन के निर्माण में लोकविद्या समूह के साथ प्रयासरत हैं।
२. श्री कविता कुरुणंटी एक वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता हैं, जिन्होंने लम्बे समय से किसान, कृषि, महिला और स्वराज के आपसी संबंधों के जरिये टिकाऊ कृषि और मानव जीवन की एक समग्र दृष्टि विकसित की है। बगलुरु में रहती हैं।
३. डॉ. कृष्ण गांधी फिजिक्स के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर हैं। पूरी ज़िन्दगी किसान आन्दोलन में सक्रिय रहे हैं किसान संघठनों की अंतर-राज्य समन्वय समिति के संयोजक रह चुके हैं। झाँसी में रहते हैं।
४. डॉ. बी. कृष्णराजुलु फिजिक्स के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर हैं। पूरी ज़िन्दगी किसान आन्दोलन में सक्रिय रहे हैं। कर्णाटक रैयत संघ में भागीदारी रही है। लोकविद्या धर्म और लोकविद्या बाज़ार पर विशेष काम किया है। लोकविद्या जन आन्दोलन में सक्रिय हैं और विद्या आश्रम से नजदीक से जुड़े हैं।
५. डॉ. गिरीश सहस्रबुद्धे फिजिक्स के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर हैं। पूरी ज़िन्दगी शेतकरी संघटना, महाराष्ट्र में भागीदारी के जरिये किसान आन्दोलन में सक्रिय रहे हैं। लोकविद्या जन आन्दोलन में कर्मरत हैं और विद्या आश्रम से नजदीक से जुड़े हैं। नागपुर में रहते हैं।
६. श्री विजय जावंधिया महाराष्ट्र के किसान नेता हैं। ज़िन्दगी भर किसानों की लड़ाई लड़े हैं। शेतकरी संघटना के अध्यक्ष रह चुके हैं। कृषि-आर्थिकी के अध्ययन में विशेष दखल रखते हैं। नागपुर में रहते हैं।

७. श्री रामजनम समाजवादी विचारधारा से प्रेरित हैं तथा स्वराज अभियान और लोकविद्या जन आन्दोलन में सक्रिय हैं। वाराणसी में रहते हैं। स्वर्गीय किशन पटनायक के शिष्य रहे हैं।
८. डॉ. चित्रा सहस्रबुद्धे विद्या आश्रम, सारनाथ की समन्वयक हैं और लोकविद्या जन आन्दोलन की राष्ट्रीय समन्वयक हैं। स्त्रियों और कारीगरों के बीच संगठन कार्य और लोकविद्या संवाद और लोकविद्या पंचायत पत्रिकाओं का संपादन किया है। लोकविद्या, स्थानीय बाज़ार, लोकस्मृति और स्वराज परम्पराओं पर इनका विशेष लेखन हैं।
९. डॉ. जे.के. सुरेश मेकेनिकल इंजीनीयरिंग और कंप्यूटर के विशेषज्ञ हैं। इन्फोसिस में थे। विद्या आश्रम से नज़दीकी से जुड़े हैं। बंगलुरु में रहते हैं।
१०. डॉ. शिवराम कृष्णन समाज शास्त्र के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर हैं। विद्या आश्रम से नज़दीकी से जुड़े हैं। बंगलुरु में रहते हैं।
११. डॉ. अमित बसोले अज़ीम प्रेमजी युनिवर्सिटी में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हैं। अर्थनीति और रोज़गार के विषय पर काम करते हैं और विद्या आश्रम से नज़दीक से जुड़े हैं।
१२. डॉ. ललित कुमार कौल भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स के अनुसंधान विभाग से अवकाश प्राप्त हैं। लोकविद्या जन आन्दोलन में सक्रिय हैं और विद्या आश्रम से नज़दीक से जुड़े हैं। लोकविद्या स्वराज पर इनका विशेष लेखन हैं।
१३. श्री प्रेमलता सिंह अपने विद्यार्थी जीवन में छात्र राजनीति में रहीं और बाद में स्त्रियों और कारीगरों के बीच कार्य किया। वाराणसी में रहती हैं।



विद्या आश्रम के हिंदी प्रकाशन

सभी प्रकाशन विद्या आश्रम की वेब साईट (vidyaashram.org) पर उपलब्ध हैं और विद्या आश्रम, सारनाथ से डाक द्वारा भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

१. लोकविद्या विचार (पुस्तक) २०० पृष्ठ
२. लोकविद्या संवाद (पत्रिका) कुल १६ अंक
३. लोकविद्या पंचायत (पत्रिका) कुल १७ अंक
४. कारीगर नजरिया (पत्रक) कुल ६ अंक
५. ज्ञान की राजनीति पुस्तकमाला (कुल ५ पुस्तिकार्यें)
 - बौद्धिक सत्याग्रह
 - लोगों के हित की राजनीति
 - ज्ञान मुक्ति आवाहन
 - युवा ज्ञान शिविर
 - लोकविद्या
६. लोकविद्या जन आन्दोलन पुस्तकमाला (कुल १० पुस्तिकार्यें)
 - विस्थापन रोको
 - बाज़ार मोड़ो-लोकविद्या बाज़ार बनाओ
 - स्मारिका-लोकविद्या जन आन्दोलन का प्रथम अधिवेशन २०११
 - लोकविद्या सत्संग
 - लोकविद्या जन आन्दोलन का बिहार समागम
 - लोकविद्या जन आन्दोलन का मध्यप्रदेश प्रांतीय अधिवेशन
 - लोकविद्या जन आन्दोलन : मालवा और निमाड़ में
 - जन संघर्ष और लोकाविद्याधर समाज की एकता
 - ज्ञान पंचायत
 - सभी की आय पक्की व नियमित हो... (हिंदी, अंग्रेजी, तेलुगु, उर्दू, बंगाली, मराठी, और कन्नड़)

- लोकविद्या प्रपंचम (तेलुगु पत्रिका)
- ७. स्वराज पुस्तकमाला (कुल २ पुस्तिकायें)
 - स्वराज पर विमर्श के सन्दर्भ
 - स्वराज परम्परायें
- ८. लोकविद्या भाईचारा विद्यालय पुस्तकमाला (कुल २ पुस्तिकायें)
 - टेंगरा का पैतरा
 - लोकस्मृति
- ९. पूर्वांचल (उ.प्र.) के ज्ञानी (कुल दो पुस्तिकायें)
 - रामअधार गिरी : लोकहित के प्रहरी
 - किसान योद्धा : भूपौली का वीर - जगदीश सिंह यादव
- १०. न्याय, त्याग और भाईचारा : किसान आन्दोलन और भावी समाज दृष्टि (पुस्तक)

विद्या आश्रम के अंग्रेजी प्रकाशन

1. **Book** : Lokavidya Perspectives: A Philosophy of a Political Imagination for the Knowledge Age, 2015, Aakar Books, Pages 471.
2. **Dialogues on Knowledge in Society:**

Listed below are the papers presented at the workshop organized at the World Social Forum, Mumbai, January 2004. 

- Lokvidya Samvad: Description of the periodical published by Vidya Ashram
- Dialogues on Knowledge in Society / Sunil Sahasrabudhey
- On the double meaning of 'information' and the work of knowledge / Avinash Jha

- Erasing Memory, Computing the Present: Playing Handmaiden to Plan X / Tenzin Rigzin
 - The current conflict in Knowledge Societies / Krishnarajulu
 - Traditional knowledge – or ‘Natures’ knowledge? / Jinan
 - A practical approach to dialogues on knowledge in Society / Krishna Gandhi
 - The Information Revolution and Creation of the Un-informed Society / Amit Basole
 - Issues in the workshop on Dialogues on Knowledge in Society / Girish Sahasrabudhe
 - Knowledge in society and the knowledge society: Opening the Debate for a New Millennium / Ananya Vajpeyi
3. **Virtuality and Knowledge in Society:** Papers presented at the workshop organized at the World Social Forum, Karachi, March 2006.
 4. **Knowledge Satyagraha:** Presentation made at the India Social Forum, New Delhi in November 2006.
 5. **Radical Politics and the Knowledge Question:** Pamphlet prepared for the World Social Forum, Nairobi to be held in January 2007.
 6. **Global Fraternity of Peoples’ Knowledge Movements:** Vidya Ashram Bulletin for WSF2015 Tunis, 24-28 March 2015



देखें बूझें अपने गाँव

आ अब लौट कर देखें बूझें अपने पुरखों के गाँव	अन्न से ही है अनवन चाल अन्न चढ़ा भेंट बाजार बन गई भूख व्यापार आ अब लौट चलें देखें बूझें अपने पुरखों के गाँव
बैल बिके माटी बीमार वृक्ष कटे हवा बीमार रसायन घुले पानी बीमार चारों ओर मच रहा हाहाकार आ लौट कर देखें बूझें अपने पुरखों के गाँव	किसान अन्न उपजावै सारे जग की भूख मिटावै मुझी भर अन्न बहुत भारी जब भूख लगावै अंगारी कहीं भूख कहीं भंडार अकूत आ लौट चलें देखें बूझें अपने पुरखों के गाँव
अस्पताल बन रहे धुआँधार बीमारी बढ़ रही बेशुमार मनुष्य बना बेचारा बेहाल दवा दारू शोध अनोखा चहुँ ओर बस धोखा धोखा आ लौट कर देखें बूझें अपने पुरखों के गाँव	तंत्र है बाजार का मारा अन्न का मोल नहीं गंवारा किसान है धरती का शिव नहीं करो उद्देलित उनको वे मरु में नूतन राह बनाते आ लौट चलें देखें बूझें अपने पुरखों के गाँव
माटी से जीवन निर्मित अन्न करता उर्जा संचार	

-प्रेमलता, चकियावी

वर्तमान किसान आन्दोलन ने सामान्य लोक-जीवन और सारी दुनिया पर हावी परजीवी आधुनिक व्यवस्था के तौर-तरीकों व इन दोनों के बीच की भारी विसंगति और अन्तर्विरोध पर सबका ध्यान केन्द्रित किया है। बड़ी संख्या में मिलकर अपनी बात कहने की तथा वर्तमान दुनिया को देखने समझने के नए स्वर्स्थ और ताकतवर तरीकों की सीख इस किसान आन्दोलन ने दी है। देश और दुनिया तक ने जिस उम्मीद से इस आन्दोलन को देखा वह न्याय, त्याग और भाईचारा के मूल्यों से अनुप्राणित समाज की आम चाहत प्रदर्शित करती है।

किसान आन्दोलन एक ज्ञान आन्दोलन भी है। सरकार ने कहा तीनों कानूनों से किसानों को ज्यादा पैसा मिलेगा। किसान कहते हैं कानूनों से अन्न तिजोरी में बंद होगा, भूख का व्यापार होगा, भाईचारा खत्म होगा और समाज बिखरेगा। सरकार के रुख में आधुनिक ज्ञान का दंभ झलकता है जबकि आन्दोलकों के रुख से सत्य के पुनर्निर्माण के लिए भाईचारा, न्याय, संवाद की महत्ता और सबकी भागीदारी में विश्वास दिखाई देता है।

किसान आन्दोलन की शक्ति, दिशा, विस्तार, उसमें अंतर्निहित संभावनाओं आदि के विभिन्न पक्षों पर लेख इस पुस्तक में हैं। आशा है कि यह पुस्तक सभ्यता और वैश्विक पुनर्निर्माण में किसान की महत्वपूर्ण भूमिका की दावेदारी प्रस्तुत कर सकेगी। साथ ही यह सभी विपन्न समाजों, जिनमें दुनिया की बहुत बड़ी जनसंख्या आती है, के लिए मुक्ति के मार्ग खोजने में मददगार साबित होगी।